अचल सुहाग

सुमित्रा कुमारी सिन्हा

भूमिका

इला अपने मन से पूछती है, "क्यों एक ही रास्ते पर चलने को यह नारी प्रेरित है ? क्या एक चीज़ देखते-देखते मनुष्य का थका मन अटक नहीं जाना चाहता ? क्या इधर-उधर देखने को चंचल होकर उलझ जाना नहीं चाहता ? तो इस मानव-सुलभ स्वभाव की हत्या क्यों ?" भारतीय दाम्पत्य जीवन का यह प्रश्न अपनी विभिन्न कटुता के साथ बार-बार इन कहानियों में पाठक के सामने आयेगा। उनमें इसी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि समस्या पूरी तरह सुलझ गई है, लेकिन यह भी क्या कम है कि उसकी विकट उलझन का हमें इतना सजीव चित्रण मिलता है ! अधिकांश नये लेखक-लेखिकाओं की रचनाओं में एक अतृप्त आकांक्षा का आभास तो रहता है पर निर्जीव होकर, जैसे वे अपनी पराजय को अपने गले लगाए रखना चाहते हैं। अपनी निर्बलता और निष्प्राणता को वे आध्यात्मिक वेदना का रूप देकर अपने मन को संतोष दे लेते हैं। वैसी रचनाओं से यह पुस्तक भिन्न है। इसका आधार निर्जीव कल्पना नहीं, कटु यथार्थ है और यथार्थ की कटुता के प्रति निर्बल आत्मसमर्पण नहीं वरन् उतना ही तीव्र विद्रोह है। समाजनीति के बड़प्पन के आगे जैसे मनुष्य अपनी भावनाओं, इच्छाओं को भूल जाता है; या तो वे नितांत निर्जीव होती हैं या उन्हें स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का किसी में साहस नहीं होता। प्रेम को आध्यात्मिकता के ढोंग से निकाल कर यहाँ उसकी यथार्थ व्याख्या की गई है। "प्रेम है ही क्या ? हृदय की एक अवस्था ही तो ? शारीरिक अवस्था में परिवर्तन होता है, तो हृदय की भावनाओं में परिवर्तन होना ही क्यों अस्वाभाविक है ?"

इस छायावादी युग में दो आत्माओं का सम्बन्ध न जाने किन-किन पूर्व-जन्मों से चलता आता है; प्रेम का स्वप्न देखनेवाले उसे मन का एक परिवर्तनशील संस्कार मात्र कहना ढिठाई ही समझेंगे, लेकिन नारी का स्वप्न टूट चुका है; उसकी पीड़ावादी भावुकता अब विद्रोह में बदल रही है और पुरुष को उसके टूटे हुए स्वप्न के यथार्थ का सामना करना है।

भाभी कहती हैं—"प्रेम भी परिवर्तनशील है और दाम्पत्य जीवन में तो कुछ दिनों बाद प्रेम पाखण्ड और निर्जीव हो जाता है।" और जब निर्जीव ही हो जाता है तब नारी के लिए क्या रह जाता है? तब कर्तव्य-भार से लदे हुए दैनिक जीवन के गृह-कलहों के सूने-सूने निस्तब्ध पलों में, पति के अतिरिक्त एक और हमउम्र साथी के साथ दो घड़ी रसभरी अठखेलियाँ, मीठी चुहल और स्वाभाविक चुलबुलेपन से भरी छेड़छाड़ से सूने वातावरण को मुखरित कर देने की प्रबल आकांक्षा जागृत होती है।" लेकिन पति को यह सहन नहीं होता। नारी को लांछना और अपमान सहना पड़ता है। पति से ही नहीं, समाज भी उसे कुलटा और व्यभिचारिणी कहकर तिरस्कृत करता है। कोई समाज से पूछे, यह प्रकृति का रस और सौंदर्य किसके लिए? नारी के लिए नहीं? किंतु संसार में ऐसे प्रश्न करनेवाले 'पागल' गिने जाते हैं। क्योंकि संसार ऐसे प्रश्नों का—हृदय से सीधे निकले हुए प्रश्नों का—उत्तर देने में सदैव असफल रह जाता है।

यदि पुरुष में साहस होता तो समस्या शायद सुलझ जाती परंतु वास्तविक संसार में भावुकता नहीं है। एक बार जिसे देखकर नारी रीझ जाती है और उसे आत्मसमर्पण कर देती है, वही अवसर पड़ने पर पीठ दिखा देता है। "प्रतिक्रिया" में इस पीठ दिखाने का भयंकर परिणाम चित्रित है। लीला को पीठ दिखानेवाला रंजन उससे बहुत दिनों के बाद मिलता है। लीला कहती है—"रंजन, तुम बीमार हो गये हो?

मैंने प्रण किया था, तुम जहाँ कहीं मिलोगे, तुम्हारी हत्या कर दूँगी। लेकिन तुम्हारी यह शक्ल देखकर मैं ऐसा नहीं कर सकी। रंजन... धोखेबाज़! जाओ, अब जाओ!" इस हद तक पुरुष की कायरता के प्रति नारी की प्रतिक्रिया पहुँच चुकी है। पीड़ा को आराध्य बनानेवाली भावुकता नहीं, यह सक्रिय विद्रोह है।

फिर भी परिस्थिति नहीं बदलती। भावुक प्रेम ही सब कुछ नहीं है; नारी को दासत्व-बंधन में बलात् इसीलिये तो बँधना पड़ता है कि वह आर्थिक दृष्टि से परतंत्र है। विद्रोही इला कहती है—"कायर, स्त्री को पालतू पशु से भी गिरा हुआ समझनेवाले पुरुष, तुम अपने को समझते क्या हो? यह अपमान स्त्री नहीं सह सकती, तुम्हारे टुकड़ों पर ठोकर है। वह दर-दर की ठोकर खायेगी, किंतु तुमसे सहायता नहीं ले सकती।" इला जीवन में ठोकरें खाकर यही सीखती है, "समाज के विधानों की ज़ंजीरों से जकड़ी हुई नारी जब तक अपने बंधन आप नहीं काटती—कोई शक्ति उसे उसका सर्वनाश होने से नहीं बचा सकती।" यही मुक्तिमार्ग है जिसकी ओर यह पुस्तक अंत में इंगित करती है। भावुकता का महल भी नोन-तेल-लकड़ी की नींव पर खड़ा है और जब तक यह मूल समस्या न सुलझेगी, तब तक अन्य परिवर्तन असंभव हैं।

आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र नारी और पुरुष का क्या संबंध होगा, यह हम इस पुस्तक से नहीं जान पाते। शायद अभी जान भी नहीं सकते क्योंकि समाज में अभी उतना परिवर्तन नहीं हुआ है। इसीलिये इस पुस्तक का संबंध आज के वीभत्स यथार्थ से अधिक है, कल के सुनहले स्वप्नों से कम। और यथार्थ का ज्ञान ही मनुष्य को परिवर्तन के लिये प्रेरित कर सकता है। फ़िलहाल नारी के एक ओर "नियम-बंधनों, कठोर नीरस कर्तव्य और धर्मों के थोथी आदर्शवादिता के पहाड़ के पहाड़" हैं; दूसरी ओर "पुरुष के छद्म रूप की गहरी खाई"

है। पुरुष की "झूठी सहानुभूति में स्वार्थ छिपा हुआ अपना विकृत मुँह दिखाता है।" "ऐसे समाज में क्षुद्रता, संकीर्णता, भ्रमजाल में रह कर कहीं शांति नहीं, सुख नहीं, संतोष नहीं।" प्रधानतः यही ध्वनि पुस्तक पढ़ने के बाद कानों में गूँजती रहती है। स्त्रियों द्वारा रचे साहित्य में यह आगे का क़दम है, इसलिये कि यहाँ अशांति को शांति न कहकर उसे उसी के नाम से पुकारा गया है। निराशावादी की यह निष्क्रिय अशांति नहीं; उसकी अशांति शांत, निश्चेष्ट होती है। यहाँ गति है, क्रिया है, अपनी अशांति का अनुभव है और इसीलिये वह भविष्य के परिवर्तित समाज के लिये उचित भूमिका है।

सुन्दरबाग़—लखनऊ
२६-७-३६

रामविलास शर्मा

क्रम

विवाहिता

आज 'जीवन' फिर आया है ! वही 'जीवन', जो 'कल्पना' के जीवन के सुनसान मरु-पथ पर अतिथि की भाँति एक दिन आ मिला था, किसी दूर देश से। और बन गया था 'कल्पना' का 'जीवन' !

हाँ तभी तो, एक दूसरे से दूर रहते हुए भी, एक दूसरे की हृदय की धड़कन को दोनों ने हृदय के कानों से स्पष्ट सुना था, और एक दूसरे की आँखों की मौन सजीव भाषा को एक दूसरे से दूर बैठे हुए भी पढ़ लिया था, अच्छी तरह समझ लिया था। एक दूसरे की मन की व्यथा को, पीड़ा को, उच्छ्वासों को अनुभव किया था, एक दूसरे के भावों, कल्पनाओं और आकांक्षाओं के भीतर गहराई तक पैठ गये थे। एक दूसरे के जीवन के पृष्ठ, पंक्ति, अक्षर-अक्षर एक दूसरे के सामने खुल गये थे। किन्तु दोनों एक दूसरे से इतनी दूर थे, जैसे आकाश और पृथ्वी।

कल्पना जीवन से बहुत कम बोलती। आवश्यकता से भी कम। उसके सामने बहुत कम निकलती। अपने हृदय के भावों को उसके सम्मुख तो व्यक्त करना उसने जाना ही न था। उसे तो आत्म-गोपन में ही सुख निहित लगता। अपनी अन्तस की कसक को चुप-चुप पीते रहना ही उसे तृप्तिकर था। उसके पास तो एक सजीव प्रेममय हृदय था। उस पागल प्रेम में सिर्फ प्रेम करने की ही आकांक्षा थी। प्रेम के बदले प्रेम पाने की अभिलाषा नहीं। जिसे दुनिया के लोग पागलपन कहते हैं, ऐसा उसका निराला प्रेम था।

लेकिन वह क्रम भी बहुत दिन चल न सका। कारण ? कल्पना थी विवाहिता, पतिदेव के सौभाग्य-सिन्दूर की लाज रखनेवाली हिन्दू नारी। विवाह के बाद उसे पराये पुरुष को— चाहे वह कितना ही निर्मल क्यों न हो—प्रेम करने का हक कहाँ ? और जीवन भी था पत्नी के सिंदूर की रक्षा करनेवाला हिन्दू पति। फिर दोनों का अनुचित प्रेम कैसा ? विवेक-हीन सम्पर्क कैसा ? विवाहितों का यह अधिकार कैसा ?

चारों ओर से धिक्कार का बवंडर उठ खड़ा हुआ। 'छीः-छीः' की एक अनवरत ध्वनि गूँज उठी। अपवादों का पहाड़ लग गया। इस विडम्बना के बीच दुर्बल नारी कल्पना कैसे रह सकती थी ? चारों ओर के चक्कर काटते घने अन्धकार में कैसे चल सकती थी। परिणाम वही हुआ जो ऐसी परिस्थिति में प्रायः हुआ करता है। उसने अपने मचलते हुए हृदय को बरबस दबाया। अपने उद्विग्न मनोभावों को छाती में बरबस छिपाया। और जीवन से मिलना जुलना, बात करना बन्द कर दिया। अब जब वह आता तो कल्पना अपनी छाया से भी उसे दूर रखती। तो जीवन, जिसके पास एक नन्हा-सा हृदय था और उस हृदय में अनुभूतियाँ थीं, समझ गया और व्यर्थ उसकी वेदना को बढ़ने न देने के लिए उसने आना-जाना बिलकुल बन्द कर दिया।

भावनाओं के उद्दाम प्रवाह में सतत बहती हुई कल्पना को अपने गोपन के प्रयास में शान्ति भले न मिलती, विराम, आश्वासन भले न मिलता, पर एकबारगी उसे लांछना और विडम्बना का शिकार होने से तो बचना ही था। अब वह अपने चारों ओर की क्रूर दृष्टियों से अपने को आँखें बन्द कर बचाये रहती। एक अँधेरे कोने में अपने को छिपाने की चेष्टा में रत रहती। कभी उसके जी में बेकली घनघोर हो उठती और सुख-दुःख की अनेकों खट्टी-मीठी स्मृतियाँ उमड़-घुमड़कर बरसने को होने लगतीं। और तब वह एकान्त में फफक-फफककर रो उठती। एकान्त में सोच-सोचकर रोना तो श्वास को गति देने का उसका एक क्रम था। वह कितना ही अडिग, अचल, स्थिर रहना चाहती पर किसी एक कोने से करुण भावनायें उठकर उसकी दृढ़ साधना को बहा देतीं। वह अपनी इस निर्बलता को दूर निकाल फेंकने में असमर्थ थी।

यह बात न थी कि उसे पति का प्रेम न प्राप्त था। यही तो एक रहस्यमयी विडम्बना थी, अबूझ पहेली। पति के निश्छल प्रेम में डूबकर भी अभागिनी मरुथल की चिलचिलाती सिकताराशि में तड़पती रहती। पति की सुख-सुहागभरी गोद में दुबककर भी तो वह न जाने क्या बिसूरा करती। शायद विधाता के अभिशाप स्वरूप वह आयी थी जगत् में। पति जब प्यार से उसकी आँखों में आँखें डालकर पूछते:—"रानी, तुम मुझे प्यार करती हो?" कल्पना उत्तर में दृष्टि नत कर केवल मुस्कुरा भर देती। और उसी क्षण एक दृढ़ निश्चय उसका कलेजा बेधकर निकल जाता—कि क्षणिक भावुकता के वश में होकर अब वह अपने अवशेष दिनों की निश्चिन्तता नहीं छुनेगी। एक सन्तोष को हृदय में जगाकर, एक तृप्ति को बसायेगी। जीवन यों दुखी और पतित रहने के लिए नहीं है। अब वह अपनी भावनाओं से परे

आकर्षणों की दुनिया से दूर—अपने मन की स्वामिनी होकर रहेगी, अनन्त पथ की भिखारिन बनकर नहीं।

अब वह निश्चय कर चुकी है। अपने हृदय के अन्तरतम का सारा प्यार, समस्त स्नेह, अपने पति के अस्तित्व में ही घुलाकर मिला देगी। 'जीवन' उसका कौन है? क्षण भर का पथिक! यह पति! जीवन भर का साथी उत्तरदायी पति! और उसके साथ विश्वास-घात? नहीं, यह ठीक नहीं। यह मन—हाँ, यह मन जो बार-बार खिसकना चाहता है, इसे एक डिबिया में वह बन्द कर रक्खेगी। लेकिन यह इस्पात की तरह कठोर बनने में, इस निश्चय की गाँठ को ज़रा भी ढीली न होने देने में यह संसार के लुभावने दृश्य आकर क्यों बाधक हो जाते हैं? पल भर के लिये आकर उसके निश्चय को डग-मग कर देते हैं। यह दुर्बलता जाने कहाँ से आकर बार-बार मुँह क्यों फैलाने लगती है? और यह टीस-सी क्या आकर उसका हृदय चूस जाती है? अपनी दृढ़ता को सँभालकर रखने में वह क्यों नहीं समर्थ होती?

इसी चिन्तन में पड़ी हुई कल्पना खीझ उठती है। वह क्या करे? कैसे रहे? उस वातावरण में न जाने क्या है, जो उसके हृदय को बल नहीं देता, उत्साह नहीं देता। वहाँ मोहकता नहीं आती, आवेग नहीं पैदा होते, रिमझिम की गूँज नहीं उठती। परस्पर में वह आकर्षण नहीं है, जो चारों ओर से खींचकर उसे उठा ले। वह ताज़गी नहीं है। एक मात्र दुराव, एकरसता, भारीपन के बीच जीवन गुज़रता है। वैषम्य की ही झलक क्यों दीखती है। यह बेरुखा-सा जीवन! जैसे तबियत में और भी सन्नाटा छाया रहता है। कल्पना अपनी आँखें बन्द कर अपने आप में निहारने लगती। और फिर स्वयं वाणीमय हो जाती है—यह अवांछनीय क्रिया बलपूर्वक कराने की प्रेरणा कौन देता

है ! वह तो नहीं चाहती कि इस सुख-वैभवपूर्ण जीवन के प्रति विद्रोह का झंडा ऊँचा करके खड़ी होवे। ऐसे सुख-सम्पन्न घर में, ऐसे सीधे, सादे, कृपालु, सारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनेवाले पति के प्रति उसकी सारी प्रेरक शक्तियाँ क्यों नहीं केन्द्रीभूत होतीं ? हृदय का समस्त प्रेम क्यों नहीं उस ओर बहता ? क्या जीवन में पति की उपासना करना, पत्नी का ज्ञान नहीं, शिक्षा नहीं, धर्म नहीं, संस्कार नहीं ? तो उसका मन एकाग्र क्यों नहीं ? स्थिर क्यों नहीं ? तन्मय क्यों नहीं ? वह क्यों बिखर जाना चाहता है विश्व के प्रत्येक तरुण-करुण हृदयों में ?

ओह ! कैसी विडम्बना है ! कैसा ग़लत विचार है ! यह प्रेम का स्वाँग, रुचि का स्वाँग ! छीः जीवन में धिक्कार का पात्र बनकर न रहना चाहिये। ऐसे ग़लत विचारों को मन में लाना भी पाप है। जीवन में बहुत से सुन्दर विचार हैं। सुख के सपने अनन्त हैं। फिर यह ज्वाला में तपने की, प्राणों को कलपाने की ही भावना क्यों ? इस आप-बोये दुःख से हृदय द्रवीभूत हो उठेगा, इसको वह अनुभव में लाती है। लेकिन इस मानसिक उद्वेग को, उथल-पुथल को वह क्या करे ? इन आघात-प्रतिघातों से तो टकराकर हृदय चूर हुआ जाता है, वह इनसे कैसे बचे ? एक अभाव, जिसमें कहीं से भी कुछ और समाने की सम्भावना नहीं ऐसा परिपूर्ण अभाव—चारों ओर से उसे अपने में समाये ही लेता है। एक उलझन, मन की गहरी तह में छिपी ही रहती है। एक उठता हुआ विद्रोह खड़ा ही रहता है। कहीं राहत नहीं मिलती। विवश-कातर हो कल्पना रो देती है, जिसने अभिशाप-स्वरूप एक हृदय पाया है। सारा ज्ञान चौंधिया जाता है, सारा निश्चय ठोकर खाकर ढहकर अलग जा पड़ता है। आवेश ठंडे पड़ जाते हैं। दृढ़ता टूटकर गिरती है। मन जैसे चिड़िया सा उड़ जाना

चाहता है। यह मन ? ओह ! उसके दमन में उसकी कोई शक्ति, कोई चेष्टा नहीं उग पाती। कोई उपाय इच्छा को जीतने नहीं आता।

× × ×

तो उस दिन वह 'जीवन' फिर आ खड़ा हुआ—कल्पना के यहाँ। बिसरे सुपने की तरह—मूर्तिमान विडम्बना-सा, अभिशाप-स्वरूप वह 'जीवन' क्यों आया ? क्यों आया ? कल्पना का नन्हा सा मन-पंछी, निश्चय के दृढ़ पींजरे में फिर छटपटाया। हृदय की सुप्त पीड़ा को फिर जैसे किसी ने फूँक मारकर आवरण-विहीन कर दिया। प्रतिबन्ध लगी हुई भावनायें फिर जैसे डगमग हुईं। व्यथा-आन्दोलित कल्पना मर्माहत हो उठी। उसके हृदय में विद्रोह-भावना जागी—"तुम उसके संसार में फिर आग भर देने के लिये क्यों आये जीवन !" तुमसे दो घड़ी उसने प्यार किया तो उसके लिये क्षमा करो। वह एक भूल थी। उसके दुर्बल हृदय में प्यार का बल नहीं है। अब वह तुमसे घृणा करना चाहती है। तुम्हारी ओर पलमात्र भी देखना उसे सह्य नहीं। तुम क्यों आये ?... तुम क्यों आये ?... ओह...... उसका थका मन अटक गया। प्रश्नों से हृदय मथ गया। वह एक खीझयुक्त अधीरता से डाँवाडोल हो गयी।

किसी-न-किसी तरह उसके भोजन-पान की, आतिथ्य-सत्कार की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। कल्पना यह सोचकर मन ही मन झुँझला उठी। जब जीवन के सामने जाना हुआ तो निर्लिप्त-भाव से ठिठककर चुप-चाप बैठ गयी। अपने अन्तर की हत्या के बाद भी हृदय में ज्वार-भाटे आने लगे। कितने ही कथन, कितने ही उलाहने, कितने ही आदेश, मुख तक आये और होठों से टकराकर लौट गये। हृदय में बहुत कुछ घन-घोर होकर रह गया। वह कुछ न बोली—जैसे धुँधली सन्ध्या की म्लान गम्भीरता ही उसके मौन में परिणत हो गयी हो। जैसे वह जमकर पत्थर

हो जाना चाहती है। मानों उसकी वह झुकी हुई करुणा रंजित पलकें ही कहने को हो रही हैं कि तुमसे वह क्यों बोले ? तुमसे......हाँ, तुमसे... ...क्यों बोले......क्यों बोले ?...... क्यों कुछ कहे ?......उसके सब कुछ है ? क्या नहीं है ? वह सुख-सुहाग से भरी-पुरी, एक घर की स्वामिनी, पति की रानी है, उसकी गोद में कोमल चपल-क्रीड़ा कलरव से घर भर देनेवाला नन्हा सा शिशु है। उसके क्या नहीं है ? वह वैभव की रानी, तुम्हारे प्रेम की भिखारिन नहीं। वह क्यों तुमसे नाता जोड़े ? तुम उसके होते ही कौन हो ? वह क्यों बोले ? तुमसे.........हाँ.......... क्यों........ ? कल्पना का हृदय एकबारगी प्रलाप कर उठा। उसके प्रत्येक रोम-रोम उन्मुख होकर जैसे पूछने लगे— गूँज सी उठाकर— 'बताओ, तुम क्यों आये ? मैं तुम्हारी कौन ? मैं तुमसे क्यों बोलूँ ? ....'' पर उसके दुख की, घृणा की, पश्चात्ताप की, कातर आवाज़ काँपकर होंठों के अन्दर ही खो गयी। मन की वाणी अन्दर गूँज उठने पर भी उसके पत्थर-से होंठ न हिले। जमे ही रह गये। उससे मौन प्रश्नों को शब्दों की सीमा में बाँधा न गया। वह प्रस्तर-प्रतिमा सी बैठी रही। दुःख के उमड़े हुए सागर के बीच अचल, अडिग, चट्टान-सी। जैसे सारी सृष्टि से मुँह मोड़कर अपने आप में खो जाने के प्रयत्न में वह संलग्न हुआ चाहती है। उसे विषधर से भी तीक्ष्ण होकर कोई क्यों काटने आये ? वह तो अपनी वेदना में घुली हुई सदैव अपने व्यक्तित्व को छिपाये हुए अपने विश्व व्याप्त अन्धकार को आप ही वहन करेगी। वह दुर्बल आत्मनिमग्न नारी तो अपने आप में ही अपनी वेदना में सम्पूर्ण है, बीते हुए प्रेम को मिटाकर वह घृणा व्यक्त करना चाहती है। इसी में कल्याण है। तुम उसकी सीमा से दूर होओ।

× × ×

लेकिन ऐं ! यह क्यों ? जीवन जब चलने लगा। एक दीर्घ

निःश्वास फेंकते हुए उसके अभिवादन के बदले में, उसके दोनों हाथ शिष्टतावश जुड़ गये, तो यह कल्पना का हृदय इस तरह......ज़रा सा ऐंठकर क्यों रह गया ? उसने तो क़सम खायी थी न इस्पात की तरह कठोर हो रहने की ! आन्तरिक व्यथा की तीव्रता को, कठिन और विरुद्ध पड़ने की क़सम का पुट देकर उसने अन्दर रखना चाहा था न ! तो फिर यह अन्दर ही अन्दर झगड़ और रगड़ कैसी ? यह सारी दृढ़ता किनारा काटकर उसे अकेली छोड़ क्यों भागी ? यह भीतर से फूटता हुआ करुण भाव क्यों बह आने लगा ? वह अपनी लज्जा में एकदम गड़कर खो क्यों नहीं गयी ? यह स्वप्नों के फूलों को चूमती, इठलाती हुई, मीठे गीत गाती सी मलय-समीर का एक झोंका क्यों सहस्रों भावनाओं को थपेड़ा मारकर जगा गया ? यह आतिशबाज़ी की तरह जलते, हवा के झोंके में बुझकर धूल पर पड़े हुए जड़ पदार्थ की तरह गिरा हुआ मन किसी जादू से कैसे सजीव हो उठा ? मन की प्रसुप्त कोमल भावनायें, जाग्रत होकर मलय-वायु की तरह क्यों तरंगित होना चाहने लगीं हृदय के सैकड़ों आवरण भेदकर ? यह कामना की समाधि ज़रा सी सान्निध्य की आग पाकर क्यों जल उठी ? वह जब विश्राम की नींद लेना चाहती थी तो कुछ भीगी सी पलकें अपने अन्दर सावन-भादों की नदियाँ सी छिपाये हुए क्यों खड़ी हो जाना चाहती हैं—उसका अन्तर चीख उठा। और मन ही मन जैसे एक दूसरे को समझते हुए ऊपर से वास्तविक बात से अनभिज्ञ रहने का सा भाव रखते हुये भी उसकी आँखें घूमकर जीवन की ओर उठ जाना चाहने लगीं। मानो उससे कुछ कहना चाहती हों। पर उसने तो कुछ नहीं कहा। केवल एक बार पलकें उठीं और गिरीं। मालूम नहीं जीवन की मर्म तक पहुँचने-वाली अन्तर्दृष्टि उसका ठीक-ठीक अर्थ लगा सकी या नहीं। फिर वह देर तक खड़ी उस शून्य पथ में मिटने वाले चिन्हों को देखती रही।

और आज, जब कल्पना यह सोचती है कि जब वह निर्द्वन्द रहना चाहती है मुक्त! तब यह पाषाण शिलायें, उसके झरने की तरह मुखरित रहने में, अपना कोलाहल लेकर बाधा डालने क्यों आती हैं! इस तीव्र कसक से होगा क्या? इस शीतल सन्ताप, मधुर वेदना और मादक विषाद की प्रगति देने से जीवन-यात्रा किधर जायेगी? हृदय में करुण भावों की गोधूलि बिछाकर क्या होगा? आकुलता के अतिरिक्त और क्या पनप पावेगा? जीवन में अस्थिर रोदन असह्य हो उठेगा, दृढ़ता का अभाव प्रबल हो पड़ेगा। असफल सपनों के स्मृति रूपी जीवन में जीवित रहने से क्या लाभ होगा? कल्पना इस असीम दुःख-गाथा के पन्ने उलटते-उलटते थक जाती है। उसकी शान्ति और सुख, सन्तोष और तृप्ति के लिये कहीं जगह नहीं बन पाती। वह सहानुभूति, जो परस्पर को प्रोत्साहन और दुर्बलता को सहारा देती है—धोखा देकर ओझल हो गयी है।

सारा वातावरण एक उपहास, व्यंग्य, धिक्कार और घृणा से भरा प्रतीत होता है। मानों एक गहरी और तीव्र ध्वनि चारों ओर से उठने लगती है—"क्या तुम्हीं ने प्रेम करने का ठेका लिया है? सिर्फ़ तुम्हारे ही पास एक हृदय है?" तो वह इस दुनिया से बिलकुल हारी हुई कल्पना के रूप में अपनी उलझन में पड़ी हुई दुर्बल नारी खड़ी रह जाती है एकाकी निर्जन पथ में। कठोर पृथ्वी उसके नीचे है! असीम आकाश उसके ऊपर! चारों ओर क्रूर दृष्टि का वितान! बीच में खड़ी है वह, नस-नस में हिमस्पन्दन, एक अपरिमित बहाव लिये, असीम-सागर के समान अबाध-दृष्टि, बन्द अधर और घुटती हुई श्वास में महाक्रान्ति की लहर लपेटे !!!

— व्यक्तित्व की भूख —

बाथरूम से नहाकर इला निकली ही थी कि प्रसन्नता से नहा गयी। मनोहर बाबू ने अख़बार पर से दृष्टि हटाकर मुस्कुराते हुए कहा—"तू फ़र्स्ट डिवीज़न पास हुई है इला, खिला मिठाई।"

हर्ष उसकी शिराओं में विद्युत् की तरह समा गया, खिले हुए मुख से उल्लास भरी वाणी निकली—"तो आप खिलाइये न पापा मिठाई।"

और अख़बार स्वयं उठा अच्छी तरह देखते हुए इला कमरे से बाहर हो गयी। तितली की तरह उड़ी-उड़ी फिरकर उसने अपने मैट्रिक में प्रथम श्रेणी में पास होने की ख़बर सबको सुनायी—चिड़िया की तरह वह चहक उठी, मयूरी की तरह उसके हृदय का आनन्द नाच उठा। घर भर में आनन्द की लहर उठाती सी इला अपनी ख़ुशी को अपने में समा कर न रख सकी।

मालती ने कहा—चलो अच्छा हुआ, इस साल इला का विवाह भी कर देना है।

मनोहर बाबू ने हाँ में हाँ मिलायी। किन्तु इला के मुखमंडल पर कुछ चिन्ता-मिश्रित अस्पष्ट रेखायें आकर बद्ध हो गयीं। उसकी प्रसन्नता की सरिता को जैसे किसी ने कंकड़ी मार कर अस्थिर कर दिया। वह अपने एकान्त कमरे में जाकर बैठ गयी। मेज़ पर कुहनी टेककर हथेली पर गालों को देकर कुछ सोचने लगी। उसकी आँखें दूर उस क्षितिज में स्थित नीले आकाश पर जा पड़ीं। विचारों के थपेड़े उसे रुलाने लगे। यह विवाह नाम की डरावनी बात ही क्यों उसके सामने बार-बार खड़ी की जाती है? आखिर इसे क्यों इतना महत्व दिया जाता है? विवाह की जटिल समस्या वह कैसे हल करेगी—वह सिहर उठी...कौन जाने किस दिशा में जीवन बहेगा?

दिन भर वह इस विवाह की समस्या के चिन्तन से मथित रही। धूमिल संध्या की नीरवता के क्षण में वह ऊब उठी। एक दीर्घ साँस फेंक, हाथ में एक कविता की पुस्तक ले छत के एक कोने में, जहाँ फूलों के गमले सजे हुए थे जाकर बैठ गयी। अपने को चारों तरफ से बटोर कर, अध्ययन में लीन होने का प्रयत्न करने लगी। सहसा सामने के मकान की सटी हुई छत से दबे पाँव रखता संगीत आ खड़ा हुआ, किन्तु तल्लीन इला ने उसे न देखा। यह देख संगीत को एक शरारत सूझी। उसने गमले में लगे गुलाब के पौधे से एक फूल तोड़कर उसके ऊपर फेंक दिया। किताब पर फूल गिरने से एकाएक चौंक कर इला ने देखा, तो खिलखिलाकर हँस रहा था संगीत। इला भी शरमाकर मुस्करा दी। संगीत ने उसी मधुर हास्य से कहा:—बधाई देने आया हूँ इला।'

'धन्यवाद!' कहकर इला हँस पड़ी।

'अब क्या कवि बनने का आयोजन हो रहा है ?'

'तो आपको क्या ?' बनावटी क्रोध से भृकुटी चढ़ाकर इला बोली, किन्तु इस वाक्य में उसका राशि राशि भोलापन फूट पड़ा।

"अच्छा भाई, नाराज़ न हो, लो मैं जाता हूँ"—कहकर स्निग्ध मुस्कुराहट से उसे निहारते संगीत चला गया।

पड़ोसी होने के नाते वर्षों से उसका परिचय था। लेकिन पहले वह कम आता, इधर अधिक आने लगा था। आयु यही कोई अठारह उन्नीस वर्ष की थी। देखने-सुनने में सुन्दर, मैट्रिक पासकर उसने कालेज ज्वाइन किया था।

पुस्तक के पन्नों में इला अपने आपको निहार रही थी। मन कल्पनाओं के प्रवाह में बहता जा रहा था दूर तक। यह युवक! कैसा हँसमुख, कैसा सरल इससे खेलने को जी होता है किन्तु यह चाह क्यों? उसके जी में कौतूहल का प्रवेश हुआ—एक विस्मय सा अन्तर में मचल उठा—क्या इसी को प्रेम कहते हैं? आकर्षण इसी का नाम है? स्कूल में सहपाठनियों के वाद-विवाद इसी पर होते थे? किन्तु वह तो इससे अभी तक अनवगत रही है। फिर इस संगीत के देखने को आँखें क्यों उठ जाना चाहती हैं? उससे बोलने को होंठ क्यों स्फुरित रहते हैं? इला को रोमांच हो आया। झकोरे से इठलाती हुई हवा ने अपने एक थपेड़े से उसके अंग-प्रत्यंग को सिहराकर पूछा—यह सृष्टि के कण-कण की मदिर सुषमा, किस बात का आभास देती है? यह फूलों के हँसने में किसका सन्देश है? तुम नहीं देखतीं इन चाँदनी धोई रातों में कितना आकर्षण है! इला के हृदय में जाने कब तक भावों के तूफ़ान उठते गिरते रहे। उसके यौवन की पौ फटने की वह बेला थी!

इला के विवाह की बातें ज़ोरों से चलीं और एक दिन आख़िर

विवाह की तिथि निश्चय कर मनोहर बाबू ने सन्तोष की साँस ली। मालती ने पूछा—"तुम्हें यह विवाह पसन्द है इला ? कोई बात हो तो बता दो।"

इला काँप उठी। अधरों से कुछ शब्द प्रस्फुटित हुए—"माँ क्या विवाह करना ज़रूरी ही है ?"

माँ का स्वर विकृत हो गया। वह कठोर होकर बोली—"विवाह न करेगी तो करेगी क्या ?"

इला ने माँ का भाव लक्ष्य किया। उसके हृदय पर आघात-सा लगा और सजल मेघ-मण्डल की तरह मुँह गम्भीर करके उसने धीमे से उत्तर दिया—"मुझे स्वीकार है माँ !"

उसके विरोध का मूल्य होता ही क्या ? अभिभावकों की इच्छा और समाज के शासन पर ही तो उसका भविष्य निर्भर था।

विवाहोत्सव धूम से रचा जाने लगा। इला अधीर होकर सोचती, जीवन में एक महान् परिवर्तन होने जा रहा है। फिर भी भावी जीवन के कुछ सुनहले स्वप्न थे, कुछ स्वर्गीय विचार थे, जो उसे भरमा लेते। वह दूसरे ही क्षण सोचती—दासत्व का सुख, बेबसी की शान्ति, और बन्दी का सन्तोष अपनाकर भी तो एक स्वर्ग होगा, जिसमें दो प्राणी होंगे। पैर में बेड़ी भी पड़ेगी तो सोने की, दासत्व में भी एक अपनापन, एक अधिकार की भावना होगी—और वह गुदगुदाती हुई भावनाओं से भविष्य की कल्पना के चित्र बनाने लगती ! मनुष्य के हृदय में चाह होती ही है।

विदा के समय उस निर्जीव पुतली के समीप संगीत शायद उसे दिलासा देने के प्रयत्न में स्वयं हारा-सा, थका-सा, निष्फल यत्न-सा बैठा रह गया। दूर चली गयी इला।

× × ×

किन्तु यह क्या ? मानव-काया में हृदय नाम की जो वस्तु है, पग-पग पर उसे ठेस क्यों लगती है ? भावुक-हृदय के स्वप्नों के महल ढहते से क्यों प्रतीत होते हैं ? विवाह की मुग्ध कल्पना वास्तविकता की भीषणता से टकराकर छिन्न-भिन्न बिखरती सी क्यों लगी ? सद्यो-विवाहिता सप्तदश वर्षीया सुन्दरी इला के मन में विचारों के अन्धड़ उठने लगे ।

सुशील उसका पति सहज, सरल, निश्छल तथा त्यागी था, यथा नाम तथा गुण । जहाँ तक प्यार, स्वतन्त्रता तथा आवश्यकताओं की पूर्ति वह दे सका, इला को उसने दिया । ज़रा सा अस्वस्थ होने पर निरन्तर उसकी चिन्ता करनेवाले, बिना उसे साथ लिये घूमने भी न जानेवाले, किसी प्रकार की आराम में त्रुटि न होने देनेवाले उत्तर-दायी पति को इला अच्छी तरह जान गयी थी, समझ गयी थी । इन बातों के सम्बन्ध में उसके गुणों पर मुग्ध हुये बिना भी तो न रह सकी थी । किन्तु..... यह क्या ? शिक्षिता इला को सान्त्वना क्यों नहीं ? सन्तोष क्यों नहीं ? एक अभाव की टीस क्यों ? अपने सामने वह केवल अनाकर्षक जीवन ही क्यों देखती ? आशा-निराशा में अन्तर के भाव क्यों झनकार उठते ? वह क्यों अनुभव करती कि दुनिया इतने सुख की जगह नहीं है जितना मनुष्य सोचता है ?

पति के कालेज चले जाने के बाद अपने एकान्त के सूनेपन को बटोर, उपन्यासों के पृष्ठों में हीरो हीरोइन के जीवन के साथ अपने जीवन का कोई सूत्र ढूँढ निकालने की चेष्टा क्यों करती ? उनके रोमांस के भीतर वह अपने लिये एक संकेत खोजने की चेष्टा में क्यों निरत रहती ? और विफल प्रयास होकर विकल, [illegible], हृदय के उन्मादमय वेग को सँभालने में असमर्थ वह सिसकने लगती ! अज्ञात वेदना हृदय में धधक उठती ! पति के सद्व्यवहारों में डूबकर भी उसके

हृदय के अन्तर में प्रेम की लहर की सृष्टि क्यों न होती ? पति के विरुद्ध कोई शिकायत न होते हुए, मानव शरीर में उनको देवता मानते हुए भी उसकी समस्त मनोवृत्तियाँ क्यों नहीं उनकी ओर एकाग्र होतीं ? जैसे बीच में एक अगाध जलनिधि है ! उनका सहयोग उसे पूर्णत्व क्यों नहीं दे सका ? समस्त वैभव, अधिकार और अनुशासन ने उसे जीवन के किसी क्षण में यह क्यों नहीं अनुभव कराया कि पति के हृदय के अणु-अणु में वह अपने हृदय को मिला रही है ? एकाकी पथ पर चलने की उसकी धारणा क्यों ? क्या उसके पास ही केवल यह अभाव है ? अनुभूतियाँ हैं ? और अनुभूतियों में वेदना की अतृप्त प्यास है ? यह कैसा पागलपन ?

वह अपने अतीत-युग के चित्र देखती। बिजली की तरह एक-एक तस्वीरें आँखों में से चित्रपट जैसी निकल जातीं। संगीत ! ओह ! वह नवयुवक.........देखने मात्र से गुदगुदी......काश, वह जीवन फिर लौट आता !

× × ×

सर्दी का महीना था, कालेज में छुट्टी होते ही सुशील ने अलमोड़ा जाने की तैयारी की। अलमोड़े में उसके एक दूर के सम्बन्धी रहते थे, उन्हीं के घर ठहरने का निश्चय हुआ।

वहाँ उन दूर के सम्बन्धी के घर पहले ही दिन इला को लगा जैसे मृदुल (सम्बन्धी के नवयुवक बेटे) से उसका वर्षों का परिचय हो। कलाकार था न वह ! कला जैसा ही सुन्दर सर्वगुण सम्पन्न !! सुन्दर पार्वतीय दृश्यों को सुशील के साथ देखते हुए वह उस चित्रकार मृदुल की ओर भी चुपके से एक बार निहार लेती। प्रातःकालीन सूर्य की किरणों का सोना जब राशि-राशि लुटता, इन्द्र-धनुषी फूलों की हँसी बिखरी रहती तो वह मृदुल कहता—"कैसी शोभा है, देखते जी नहीं

भरता !" वह चित्रकार होने के साथ गायक भी था। उसके मधुर गीतों और प्रेम-भावना पूर्ण शब्दों से इला प्रभावित हो उठी। उसके कला के सौन्दर्य की गहरी रेखा भावुक इला के हृदय में खिचने लगी। किंतु उसके ज्ञान और भावना में, मस्तिष्क और हृदय में द्वन्द्व चलने लगा ज्ञान ने कहा—यह प्रेम अनुचित है, समाज इसे क्या कहेगा ? विवाहिता नारी का प्रेम पति पर ही केन्द्रित होता है। उसे कोई अधिकार नहीं कि वह और स्नेही, मित्र, सखा बनाकर प्यार लुटाती चले। लेकिन... मन को वह अच्छा लगता है ! जाने दो यह सब, ऊँह ! प्रेम ही तो जीवन है। इसकी अवहेलना क्यों ? इसके बिना तो जीवन निर्जीव, निस्पन्द, निरानन्द हो जाता है। आखिर फिर क्यों समाज इसे पापाचार बतलाता है ? मन में प्रश्नों के समूह उठते—क्यों एक ही रास्ते पर चलने को यह नारी प्रेरित है ? क्या एक ही चीज़ देखते-देखते मनुष्य का थका मन अटक नहीं जाना चाहता ? क्या इधर उधर देखने को चंचल होकर उलझ जाना नहीं चाहता ? तो इस मानव-सुलभ-स्वभाव की हत्या क्यों ?

अब इस अवस्था पर इला पहुँच गयी थी कि प्रतिदिन की कोई अतृप्ति, प्रति मुहूर्त्त का कोई अभाव, पींजरे के पक्षी की तरह प्राणों में छटपटा उठता था। उसका मन सुशील से दूर—बहुत दूर उड़ जाना चाहने लगा। सुशील को देखकर मुस्कराने की, प्रफुल्ल मुख बनाने की चेष्टा में भी, विफल उसकी कृत्रिम मुस्कराहट में अन्तर की अशान्ति झाँक ही उठती।

मोहक, शीतल और नवीन वातावरण में मृदुल के साथ छुट्टी बिताकर इला को उससेमिली आत्मीयों जैसी निकटता ! और अपने हृदय की सारी सद्कामनायें, सारा स्नेह लेकर वह उस पर निछावर करने चली। उसे जान पड़ा, इस युवक के हृदय में भी कोई अभाव आकांक्षा

की अनन्त नीलिमा की तरह पसरा हुआ है। और तभी उसके प्राणों ने एक नयी पीड़ा पाली।

घर लौट आने पर इला को जैसे कुछ खोया खोया सा लगा। कोसों दूर-स्थित मृदुल के लिये पत्र-प्रेषन मात्र ही आधार था। उन की आशा में इला पलकें बिछाये रहती। मृदुल के पत्र आते, जिनमें सुन्दर हृदय-उद्‌गारों की माला गुँथी रहती। भावुक हृदय की राशि-राशि कोमलता निखरी रहती। इला उन्हें घंटों पढ़ती और रोती। प्रत्येक कार्य में मृदुल का ध्यान उसे हो आता। सुशील के नियमित जीवन, कालेज, और बँगले में जैसे उसकी कोई दिलचस्पी नहीं। जैसे उसके संसर्ग में उसका मनोरंजन भी एक जटिल समस्या बनकर रह गया हो। बाह्य रूप से पति के जीवन के साथ सम्बद्ध अभिन्न दीख पड़ने वाली नारी के अन्दर की वस्तु-स्थिति का ज्ञान किसे था?

× × ×

समय भागता गया। दो वर्ष बीते।

एक महीने की कठिन बीमारी से इला स्वस्थ होकर उठी। जीवन के सभी साधारण दिनों की अपेक्षा यह दिन उसे कुछ नवीन से लगे। कुछ विशेषता सी जान पड़ी। बीमारी के कारण उसके कृश बदन में पीलेपन का आभास हो गया था। चेहरा क्षीण होने से आँखें कुछ बड़ी-बड़ी-सी निकल आयी दिखायी देने लगी थीं।

प्रातःकाल की हलकी, उजली धूप में बँगले के बरामदे में इज़ी चेयर पर इला लेटी हुई एक मासिक पत्रिका के चित्र देख रही थी। सहसा मनोज ने प्रवेश किया। वह एम० बी० बी० एस० होकर डाक्टरी कर रहा था। सामने कुर्सी पर बैठते हुए उसने मुस्कुरा कर प्रेम भरे स्वर में पूछा—"कहिये भाभी, आज तो टेम्परेचर नहीं रहा?"

प्रत्युत्तर में इला भी मुस्कुरा कर बोली—"ऊँह, आप भी क्या हर

घड़ी टेम्परेचर की बात पूछा करते हैं ? अरे, अब तो मैं चंगी हो गयी !"

"मेरी मेहनत सफल हुई भाभी !"

"लेकिन व्यर्थ ही तो ? आपने मुझे क्यों बचा लिया ?"

"क्यों भाभी, ऐसा क्यों कहती हो ?"

"अरे एक दिन तो मरना ही है फिर क्या करना ज़्यादा जी कर ?"

"ऐसा विचार स्वास्थ्य के लिये घातक है। आपको किस बात की कमी है ? ऐसे विचारों को पालकर दुनिया में आदमी पागल हुए बिना नहीं रह सकता।"

इला ने उसकी बातें सुनीं। मन में किसी ने दुहराया। किस बात की कमी है तुम्हें ! साथ ही किसी कोने से उठ कर उत्तर मिला, तुम क्या समझोगे डाक्टर !

मनोज, बड़ी आँख, पतली नाक, सुगठित शरीर का एक सहृदय युवक सुशील के गहरे मित्रों में से था और उससे आयु में दो एक वर्ष छोटा होने के नाते इला को भाभी ही कहता था। समय ने घनिष्ठता उत्पन्न कर दी थी। परिजन-सा वह हो गया था। जब से इला बीमार पड़ी थी प्रतिदिन उसकी देख-रेख, दवा-पानी की व्यवस्था तथा मन बहलाव के लिये आना उसकी डिउटी हो गयी थी। इला का मनोरंजन भी काफ़ी होता। उसे उसके व्यवहारों में प्रेम का आभास मिला और वह समझने लगी कि मनोज उसे चाहता है। उसके हृदय में संघर्ष होने लगा। उसने एक बार अपने जीवन की डायरी के पन्ने उलटे। ओफ़ ! क्यों इन युवकों के प्रति आकर्षण ? जीवन में एक नहीं चार-चार पुरुष आये ! एक संगीत था—यौवन की सीढ़ी पर पाँव रखते जिसे देखा था। दूसरा सुशील मिला, जीवन-संगी के रूप में। तीसरा उसकी कलात्मक प्रकृति की भावना को प्रेरणा देनेवाला कलाकार मृदुल आया और

चौथा आज यह मनोज—सौंदर्य की प्रतिमूर्त्ति बनकर जीवन की सारी शृंखला छिन्न-भिन्न करने आया है। इला की शिराओं में रक्त वेग से संचरित होने लगा। उसने अनुभव किया कि वह स्वयं झुक रही है। इस युवक की आँखों में क्या विशेषता है, जो उसे खींचती है? क्या इसी दृष्टि पर नारी अपने को पुरुष के सम्मुख समर्पण कर देती है? लेकिन नहीं, उसे यह ख़याल भी मन में लाना पाप है, वह विवाहिता है।

भ्रान्त उन्मत्त इला एक साथ ही अनेक बातें सोचकर पागल हो उठी। उसके हृदय की अवस्था डाँवाडोल हो रही थी।

× × ×

बीच में कुछ कार्यवश मृदुल इला के यहाँ आया। पन्द्रह दिन रहने पर उसका मनोज से काफ़ी परिचय हो गया और उसकी नज़रों से मनोज की इला के प्रति मनोवृत्तियाँ भी छिपी न रह सकीं। उसके कोमल हृदय को कुछ ठेस सी लगी। घर पहुँचकर उसने लिखा:—"इला, मैंने देखा, वह जो मनोज, तुम्हारे पास अधिक आता है, और जिस प्रकार उसने तुम्हारे हृदय पर विजय प्राप्त कर ली है, मेरे विचार से तुम्हारे जीवन को सिवा दुःख के किसी सुख के पथ पर वह नहीं ले जा सकता है। सोचो समझो, तुम किधर जा रही हो?"

पढ़कर इला स्तब्ध रह गयी। सचमुच यह तो जान-बूझकर उस घर में आग लगाना है जो ज़रा सी गर्मी पाकर स्वयं जल उठने को व्याकुल हो। जब तक कोई घटना नहीं घटती, जब तक कोई भेद, रहस्य कोई जटिल समस्या बीच में नहीं आ पड़ती, मनुष्य का भावुक मन कल्पना के समुद्र में ग़ोते लगाया करता है। यही दशा इला की थी। अभी तक वह अपने प्रेम पात्रों को विश्लेषणात्मक दृष्टि से नहीं देख सकी थी। अभी तो उसकी आँखों में एक ही मोहक भाव, एक ही मुग्धता भरी थी, केवल

मात्र प्यार करने की अन्ध इच्छा। पात्र प्यार करने योग्य भी है या नहीं इसकी उसे अपेक्षा न थी। आज उसकी आलोचनात्मक वृत्तियाँ जाग उठीं। आज वह उनके सम्बन्ध की एक-एक घटना, एक-एक बातें, उनके शारीरिक, मानसिक सौंदर्य की पर्यालोचना करने लगी। किन्तु सहृदय इला ने अपना भावुक मन दोनों से ही घनिष्ठ प्रेमपूर्ण परिचय पाकर दे दिया था। दोनों ने अपने मानसिक तथा शारीरिक सौंदर्य द्वारा उसके हृदय में जाकर सामंजस्य स्थापित कर लिया था। इला के हृदय में न जाने कितने द्वन्द्व, उलझन का संसार लिये उठ पड़े। कैसा था उसका जीवन, नैराश्य की मरुभूमि को छूता हुआ। कैसी थी उसमें प्रेम की करुण विडम्बना, दारुण कृत्रिमता के पीछे सहानुभूति की कुचली हुई आकांक्षा!

दिन के दो बज गये थे। इला लेटी हुई थी। गम्भीर विचारों का उसके हृदय में युद्ध चल रहा था। मृदुल के पत्र के सत्य को वह देखकर भी नहीं देखना चाहती थी। इस प्रेम और कर्तव्य को लेकर उसका हृदय भारी हो आया, आँखें छलछला आयीं, और वह चुपचाप सिसकने लगी।

सन्ध्या में देर थी। नित की भाँति मनोज आया। इला अपनी लाइब्रेरी में बैठी थी। निःशब्द चरणों से वहाँ जाकर मनोज ने उसे चौंका देने की सोचा। दबे पैरों जैसे ही घुसा, इला की दृष्टि सहसा पड़ ही गयी। मृदु मुस्कुरा कर मनोज बोला—"किस परीक्षा की तैयारी हो रही है?"

किन्तु और दिनों की अपेक्षा इला आज क्षुब्ध थी, उसके हृदय में एक काँटा सा खटक रहा था। खिन्नता भरे स्वर में बोली—"क्यों क्या कीजियेगा पूछकर?" आज अपने ऊपर ही उसे एक खीझ उत्पन्न हो गयी थी।

मनोज मन ही मन आश्चर्यान्वित हुआ। "क्या बात है?" उसने पूछा—"आज सुस्त क्यों हो?"

"यों ही, कुछ दर्द है सिर में।" कहकर इला अपने ड्राइंग रूम में उठकर चली गयी।

मनोज क्षण भर रुका फिर उसे दरवाज़े के पास से ही पुकार कर बोला—"ज़्यादा दर्द है क्या भाभी, कोई बाम मल दूँ?"

इला ने कहा—"कोई ज़रूरत नहीं। और वह पलंग पर जाकर पड़ रही। मनोज का जी अकेले लगता नहीं था। यदि ऐसा न होता तो वह सुशील की अनुपस्थिति में ही ज़्यादातर क्यों आता? उसने थोड़ी देर तक बैठे रहकर, उसे एक बार सतृष्ण नेत्रों से देखा और फिर चला गया।

दूसरे दिन शाम को मनोज फिर आया हाथ में एक पुस्तक लिये हुए। वह समझता था सुशील घर पर न होगा। लेकिन सुशील उस दिन एक पार्टी में जाने के लिये जल्दी ही आ गया था, और इला के पास ही बैठा हुआ 'शेव' कर रहा था। सामने की चेयर पर बैठते हुए मनोज ने पुस्तक इला को देनी चाही, लेकिन बीच में ही बोल उठा सुशील—"कौन सी पुस्तक है जी?"

मनोज ने उत्तर में कहा—"भाभीजी ने मँगायी थी, कविता पुस्तक है। तुम क्या समझोगे इसे साइंस के प्रोफ़ेसर?"

ऊपर से कोई अधिकार न रखते हुए भी मन के सम्बन्ध को दृढ़ समझने की भावना से इस प्रकार के व्यवहार को वह उचित जानता था।

किन्तु बीच में ही पुस्तक देखने की उत्सुकता से सुशील ने लपक कर पुस्तक खींच ली। छीना-झपटी में उसमें का रक्खा हुआ एक स्लिप फ़र्श पर गिर पड़ा। सुशील उसे उठाकर सरसरी नज़र से देखते

हुए फिर उसी प्रकार उसे पुस्तक के बीच में रखते हुए, पन्ने उलटने पलटने लगा।

वह स्लिप इला के नाम मनोज ने लिखकर रक्खी थी। इला ने उसे पढ़कर अन्यत्र छिपा दिया था। किन्तु सुशील को वह बात न भूली। रात को शय्या पर लेटे हुए उसने इला से पूछा—"उस स्लिप में मनोज क्या लिख कर लाया था।"

इला का हृदय धक्‌धक् करने लगा। मनुष्य चोरी करते नहीं, वरन् उसके पकड़े जाते डरता है। तो क्या यह चोरी थी? आज तक जो कृत्रिम प्रेम वह सुशील को दे रही थी, वह उस पर अविश्वास तो कर ही न सकता था, पर अंगार कब तक राख से छिपाया जाता! इला काँप उठी। कम्पित स्वर से कहाः—"कुछ भी नहीं।" लेकिन जब सुशील पीछे ही पड़ गयाः—"कुछ तो था इला, मुझसे छिपाती हो?" तब इला ने वह स्लिप दिखा दिया। उसमें लिक्खा था—"प्राण! कल की तुम्हारी वह उपेक्षा, मेरे कलेजे पर छुरियाँ चला रही है। मुझसे क्यों नाराज़ हो? क्या एक तृषित हृदय को यों ही चिर पिपासा की जलन में तड़पने को छोड़ दोगी? मेरी रानी! क्या तुम्हारे प्रेम-पीयूष का एक कण भी न पा सकूँगा?"

इला का मुँह पीला पड़ गया था। इस प्रमाण के बाद भी उसे सुशील सच्चरित्र समझेगा?

सुशील का मुँह विवर्ण हो उठा। उसके सिर पर जैसे एक साथ ही सौ वज्र गिरें। तीक्ष्ण व्यंग से कठोर स्वर में उसने कहाः—"छिपे-छिपे यह प्रेम लीला? फिर मेरे साथ प्रेम का स्वांग क्यों इला, इस विश्वासघात की ज़रूरत ही क्या है?"

क्रोध से उन्मत्त सुशील की श्वास ज़ोरों से चल रही थी। आँखें रक्त-वर्ण और शिराओं में उत्तेजना की उन्मत्त गति।

इला की साँस मानो रुकी जा रही थी । वह निस्पन्द प्रस्तर मूर्तिवत मोढ़े पर बैठी रह गयी । संस्कारों की शिकार दुर्बल नारी !

× × ×

बाहर से तो घर गृहस्थी का काम सब वैसे ही चलने लगा किन्तु पति-पत्नी में जो मेल था, उसमें गाँठ पड़ गयी । उनके हृदय में जो लकीर पड़ गयी उसे मिटाना कठिन था । इस पारिवारिक अशान्ति से कोई निस्पृह न रह सका । सुशील पर यह भीषणता स्पष्ट हो गयी थी किन्तु वह विस्मय से सोचता है—"और पतियों की भाँति कभी उसने अपनी पत्नी के चरित्र तथा गति-विधि पर कोई संदिग्ध दृष्टि नहीं रक्खी । वह सदैव स्वाधीन रही पर उसने उसकी अवहेलना की ।" अब वह अत्यन्त उत्तेजित अवस्था में झुँझलाया हुआ रहता । तिलमिला कर सोचता —"आवश्यकता से अधिक सरल, और पत्नी के सम्बन्ध में शुष्क, समयानुकूल बातचीत तक ही सीमित वह न रहता तो आज यह अवसर न उपस्थित होता ।" एक घर में ही वह तटस्थ रहने लगा । इला से उसका सम्बन्ध टूटने सा लगा । पाँच पाँच छः छः दिन हो जाते—इला से भेंट न होती । बँगले में आता, खाता, सोता पर न तो इला की किसी बात को देखने सुनने की उसे कुछ आवश्यकता ही थी न उत्सुकता । दैनिक जीवन यों ही चल रहा था ।

मनोज, दो एक बार आने पर भी इला से भेंट न हो सकने से, कुछ चोट सी खाकर अब बिलकुल न आता ।

इधर इला भी मानसिक अशान्ति से जर्जर होती जा रही थी । जैसे कोई भयानक वेदना उसे दबाये रहती हो । एक दिन सहसा सुशील उस तरफ से होकर निकला । इला को देख उसे कुछ प्रेरणा हुई । वह बैठ गया—जैसे आज हर बात के लिये वह तैयार हो आया हो । एक विचित्र सनक उसे सवार हो गयी, गम्भीर स्वर में बोला—"इला, आत्मा को

छल कर कुछ न होगा, व्यर्थ है यह। अच्छा होगा कि तुम एक सच्चा रास्ता पकड़ लो।"

हतबुद्धि सी इला बोली—"क्या ?"

सुशील मृदुल के प्रति इला के प्रेम व्यवहार को भी जान गया था। उसने कहा—"तुम मृदुल और मनोज दोनों को चाहती हो, बेहतर है दोनों में से जिसके पास चाहो, चली जाओ।"

इला को जैसे काठ मार गया। कहाँ थी उसमें इतनी बुद्धि, बल, और साहस ? सदियों से पति के चरणों से लिपटी रहनेवाली नारी में कहाँ थी उसे परित्याग करने की शक्ति और सामर्थ्य ?

वह कातर बोली—"क्या तुम मुझे क्षमा नहीं कर सकते ?"

कटु व्यंग से हँसकर सुशील बोला—"इसमें क्षमा की क्या बात है इला, यह तो एक बिलकुल साफ़ बात है। तुममें क्यों नहीं इतना साहस होता ? समाज को डरती हो ? वह कुछ न करेगा। वह सिर्फ़ डरने वालों को डराता है। हमारे तुम्हारे जीवन में अभिन्नता न स्थापित हो सकी तो बेहतर होगा कि अपने जीवन को नष्ट होने से तो बचा लो।"

इला की असहाय भावना उसके अन्तर में चीत्कार कर उठीः—"इन बातों से कोई लाभ नहीं है। मैं ऐसा नहीं कर सकती।"

"ऐसा नहीं कर सकती ?" क्रोध से सुशील गरज उठा, "छिपे छिपे पत्राचार कर सकती हो ? क्यों ? तो ऐसी दुश्चरित्र स्त्री के लिये मेरे घर में जगह नहीं। बोलो तुम कहाँ जाना चाहती हो ? मुझसे जो होगा आर्थिक सहायता कर दूँगा, किन्तु मेरा साथ छोड़ो, मैं अधिक नहीं सह सकता।"

इला कल्पना भी न कर सकी थी कि सुशील इतना भयंकर रूप धारण कर सकेगा। और पुरुष के आर्थिक आधिपत्य की व्यंजना उसे तीर सी लगी।

दूसरे दिन वह अपने नैहर जा रही थी।

× × ×

"दीदी, रोती क्यों हो?" इला के बालों को उसके माथे पर से हटाते हुए करुण-प्यार भरे स्वर में हेमा ने कहा। उसके मुख पर व्यथा की झलक थी।

"भारतीय नारी जन्म से केवल रोना ही जानती है हेमा, मुझे रोने दे, रो-रोकर ही इन प्राणों को खो जाने दे। क्या करूँगी जी कर?"

"नहीं दीदी, ऐसा न कहो, तुम्हारे अभी माता है, पिता है, भाई है, और तुम्हारी प्यारी हेमा है, इसी के लिये जियो।"

"पति परित्यक्ता स्त्री का कोई नहीं, हेमा!" इला की आँखों के सजल बादल झुक आये।

"दीदी, तुम पढ़ी-लिखी समझदार होकर ऐसा कहती हो?" हेमा स्नेह-कम्पित स्वर में बोली।

"हेमा!" इला की बाँध लगी हुई आँखें फिर उमड़ पड़ीं,—"जीवन के अनुभव बड़े कड़ुवे होते हैं कम से कम मुझे उसका कड़ुवा पहलू ही देखने को मिला है। उस दिन की बात तुझे नहीं मालूम? 'माँ ने कहा पाँचवाँ महीना होने आता है ऐसे कब तक मायके में पड़ी रहेगी?' पापा ने कहा—'घर-वर अच्छा देखा, पढ़ा-लिखा कर ब्याह दिया। अब पति से बने न बने हम उसके ज़िम्मेदार नहीं।' तो बताओ न हेमा, मैं क्या करूँ? उनके शरण में जाने के सिवा अब और क्या उपाय है? जीविका हम स्त्रियों के लिये इतनी सुलभ तो नहीं है?"

"मेरी राय में तो तुम्हें अपने पैरों खड़ा होना चाहिये।" हेमा आगे कह ही रही थी कि नीचे से किसी ने किसी कार्यवश हेमा को पुकारा। इला को वहीं छोड़ वह नीचे चली गयी।

रात के दस बजे सब लोग खा पीकर सो गये, इला बैठकर पत्र

लिखने लगी। उसे कोई पता न था कि अब मृदुल और मनोज कहाँ पर होंगे, फिर भी उसने पुराने पतों से ही एक-एक पत्र दोनों के नाम लिखकर रख लिये। सवेरे उठते ही उन्हें डाक से भेज दिये। हफ्तों तक वह उत्तर की प्रत्याशा में बैठी रही। मनोज का तो कोई उत्तर ही नहीं आया। किन्तु दूसरे सप्ताह मृदुल का उत्तर उसे मिला, उसने लिखा था—"समाज का यह अत्याचार है इला, पति के सिवा अन्य किसी को प्रेम न करने के कठिन प्रतिबन्ध को तोड़ने के अपराध में इतना भीषण दण्ड तुम्हें भोगना पड़ता है। निस्सन्देह तुम्हारे जीवन को नष्ट करने में किन्हीं अंशों में मैं भी भागी रहा, परन्तु साहस और धैर्य से काम लो इला, परिस्थितियाँ स्वयं अनुकूल हो जायँगी। मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक हो सकेगा तुम्हारी आर्थिक सहायता करने से इन्कार नहीं कर सकता।"

इस उत्तर को पढ़कर विद्रोही इला के हृदय में भीषण रोष-ज्वाला धाँय-धाँय कर उठी। उसकी मुद्रा कठोर हो गयी, होंठों को क्रोध से दो बार चबाकर उसने कहा—"कायर, स्त्री को पालतू पशु से भी गिरा हुआ समझनेवाले पुरुष, तुम अपने को समझते क्या हो?

यह अपमान स्त्री नहीं सह सकती, तुम्हारे टुकड़ों पर ठोकर है। वह दर-दर की ठोकर खायेगी, किन्तु तुमसे सहायता नहीं ले सकती।" और उसकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। अपने जीवन, समाज, संसार सबके प्रति उसके मन में विद्रोह जागा। जिस प्रेम के लिये उसका घर-द्वार, लोक-लाज, यश-अपयश सब छूटा और जिस प्रेम के लिये आज उसने अपने को समाज के निषेध की दीवारों की क़ैद से भी मुक्त पाया, तो आज नारी की आर्थिक असहायता का विकृत रूप इस तरह अपना मुँह दिखा रहा था।

जीवन के अनुभूत सत्यों ने, आर्थिक समस्याओं ने, उसके

चिर-अभ्यस्त भावुक हृदय को कुंठित कर दिया, उसमें की कुचली हुई आकांक्षायें तड़प उठीं, उसके जीवन की पराजय के प्रति एक खीझ उठी। उसके पुराने संकल्प तुच्छ हो उठे। जिन सहृदय और कोमल वृत्तियों ने उसे प्रेम के माधुर्य्य के लिये चंचल कर दिया था, आज वह भावुकता कठोरता में परिणत हो गयी, अमृत के बदले अब विष पीने को वह कटिबद्ध है। अपनी प्रबलतम प्रवृत्तियों को दबाकर अंगार में झुलसना है, लेकिन जब समाज के बताये रास्ते से हटकर झाड़ झंखाड़ में वह उलझ ही गयी तो अपना और सारी नारी जाति का रास्ता उसे बनाना है। उसकी नसों में उत्तेजना से रक्त दौड़ा। उसे रास्ता बनाना है। अब वह किसी की सहायता के लिये हाथ न पसारेगी।

और तभी अपने बचे खुचे रुपयों के बल पर पिता के घर से भी अलग हो इला एक प्रगतिशील मासिक पत्र की सम्पादिका और संचालिका हो गयी। उसके अन्तर के अणु अणु में जो विद्रोह की ज्वाला जल रही थी जिसने उसके हरे भरे जीवन को नष्ट कर दिया था उसके कुछ कण बिखेरे बिना उसे चैन नहीं। सामाजिक सुधार-संघ-संस्थाओं को उसने अपना जीवन दे दिया। उसके भाषण में आग की लपटें निकलतीं, कालमें के कालम उसकी जलती हुई लेखनी की चिनगारियों से भरे रहते। आज वह जान गयी, समझ गयी है कि समाज के विधानों की ज़ंजीरों से जकड़ी हुई नारी जब तक अपने बंधन आप नहीं काटती—कोई शक्ति उसे उसका सर्वनाश होने से नहीं बचा सकती।

—मेरी जाँ लुट गयी....—

"क्यों करु, तुम्हें हो क्या गया है जो बार बार लान की तरफ तुम्हारी दृष्टि जाकर अटकी रहती है ?" 'न कोई........प्रेम का रोग लगा... ओ......।' की तान अलापती हुई शुभा ने मधुर हँसी हँस कर कहा।

"जाने कौन-सी एक शक्ति है जो मेरे मन के प्राण को उस ओर खींचे रहती है। और मैं बताऊँ भी क्या शुभा ?" उन्मन करुणा ने उत्तर दिया।

"शायद इसे ही प्रेम कहते हैं। दुनिया के लोग अपनी कठोर भाषा में इसी के लिये शायद चेतावनी देते हैं, प्रेम में पागल मत होना !"

"किन्तु इससे बड़ा सत्य मेरे जीवन में दूसरा नहीं है शुभा ! अधीरता से करुणा बोली, तू क्या जाने, मेरी प्रत्येक आने-जानेवाली श्वास-प्रतिश्वास वायु के अदृश्य पर्दे पर किसी का नाम कितनी बार लिखती रहती है ?"

"हूँ !" शुभा हँसी। अपनी चंचल आँखों को नचाती हुई बोली:—"लेकिन भूल कर रही हो, करो ! इसमें रखा ही क्या है ?"

"हाँ शुभा, हो सकता है। भूलें ही मेरे जीवन की निधि हैं, मैं करूँ तो क्या।"

"चाहने से सब कुछ कर सकती हो। दुनिया में ऐसा तो कुछ भी नहीं जो मनुष्य चाहे और न कर सके।"

"प्रेम किये बिना रहा न जाता......" करुणा ने संगीतमय स्वर में कहा—बड़ा असह्य सा लगता है शुभा, जैसे प्यार करने की लपट सी हृदय में उठती है। उससे अपने को अलग रखने में तो बड़ा सूना सा लगता है। "शुभा ! क्या तुझे इसकी कभी अनुभूति नहीं हुई ?"

"धत् पगली, प्रेम से तो मैं दूर रहना चाहती हूँ। कौन इस बला में फँसे। सुनती हूँ, इसमें बड़ी जलन और व्यथा है।" मन्द मुसकुराकर शुभा ने कहा।

"हूँ, दूर तो सभी रहना चाहते हैं। लेकिन चाहते रहने से तो कोई दूर रह नहीं पाता। यही तो इस रोग की विशेषता है। देखती हूँ तू कब तक इस रोग से बची रह पाती है ?" स्नेह-स्निग्ध स्वरों में करुणा ने शुभा के कन्धों पर झुकते हुए कहा।

"न जाने तुम कैसी अद्भुत हो, रहस्य-सी ! मुझे तो बिलकुल समझ में नहीं आतीं तुम्हारी बातें !"

"हाँ, याद है। एक बार तुमने मुझे 'जटिल समस्या' कह कर सम्बोधन किया था और आज एक 'रहस्य' बतला रही हो। लेकिन मैं तो हूँ भूलों से भरी हुई एक क्षुद्र मानवी शुभा !"

बातें हो रही थीं करुणा और शुभा में। शहर के एक बड़े मकान के एक कमरे में दोनों बैठी थीं ईज़ी चेयर पर। चंचल स्वभाव की तितली सी शुभा से करुणा की गहरी मित्रता थी। वह पैर पसारे चेयर पर

बैठी बार-बार इधर-उधर मुँह करके कभी हँसती, कभी गुनगुनाती, कभी बातें करती। लेकिन गम्भीर भावुक करुणा खुली खिड़की में से सामने, अपलक दृष्टि से देख रही थी। हृदय में कुछ टूटे-फूटे शब्दों की भीड़ और आँखों में प्यार की सजलता लिये।

तो बातें चल रही थीं उन्हीं दोनों में अनुराग को लेकर।

"चाह की गोपन एक कहानी............." शुभा धीमे स्वर से गुनगुना उठी।

"हाँ शुभा, पर मैं तो उसे गोपन न रख सकी"— व्यथातुर हो करुणा बोली। नीचे बगीचे में कोयल बोल उठी —'कुहू कुहू'...मदिरा की धारा से दिगदिगन्त को प्लावित करती हुई, हृदयों में हूक सी उठाती हुई।

करुणा सिहर उठी। क्षण भर के लिये वह फिर चुप हो रही— भावों में डूबी, समाधिस्थ सी।

"मैं कहती हूँ करो, सावधान होओ तुम—बीच में बोल उठी शुभा।

"रहने दो, इन बातों को तुम न समझोगी शुभा!

"समझाने से सब समझ लूँगी।"

"सबके विचार एक से नहीं होते हैं शुभा, सबके मन एक ही तुला पर नहीं तौले जा सकते हैं। मैं उसे चाहती हूँ बस इतना जानती हूँ।"

"अच्छा, आज मुझे बताओ उस दिन तुम टाल गयी थीं। तुम अनुराग को क्यों प्यार करती हो?"—प्रबल स्नेह-आग्रह से शुभा ने पूछा।

"कुछ तो आकर्षण है ही, कि उसे प्यार करने की इच्छा होती है"—संकोच की दीवार का धक्का खाकर करुणा का स्वर रुक गया।

"तो इसका परिणाम क्या होगा? प्रेम तो प्रतिदान चाहता है न, किसी-न-किसी रूप में?" शुभा हँसी।

"ऐसी बात क्यों कहती हो ! उसकी वाक्य-हीन स्पर्श-हीन निकटता भी पाप है ! प्यार करने की जो चीज़ है, उसे प्यार करने में अपराध. है ? लेकिन वह प्यार मेरा हृदय का है, मैं उसे दुनिया के सामने रखकर कोई हानि नहीं पहुँचाती—फिर भी कोई क्यों ......शुभा ! - उसका श्वास हृदय में घुटने लगा—सुनती हो, हृदय में जो गहरी प्यार की रेखायें खिंची हुई हैं उन्हें मिटा सकने में मैं असमर्थ हूँ। अन्तर में स्मृतियों की जो आँधी है, उसे शान्त करने में अशक्त हूँ। हाँ, उन पर गोपनता का आवरण डालकर जीवन भर रह लूँगी, इतना मेरा दावा है।"

"फिर भी कहती हूँ यह पागलपन अच्छा नहीं—जीवन में केवल इसी को लेकर तो चल नहीं सकती हो ?"

"मैं कब कहती हूँ शुभा ! मैंने कर्तव्य की वेदी पर अपना समस्त जीवन बलिदान कर दिया है। मैं कर्तव्य, उत्तरदायित्व जीवन की इन सभी जटिल समस्याओं को लेकर ही चली हूँ, चल रही हूँ।"

"हाँ, ठीक कह रही हो। लेकिन विवाहित होते हुए इस तरह अन्य पुरुष से प्यार करना भी तो उचित नहीं करु, इसे तो समझती हो।"

"सब समझती हूँ, सब चाहती हूँ, लेकिन इसमें पाप ही क्या है शुभा ! मनुष्यमात्र में एक अतृप्त सुख की लालसा होती है। क्या यह सम्भव नहीं है कि जिसे जीवन में जो वस्तु एक साथी से न मिल सके वही अगर अन्य कहीं मिल पावे तो या चाहने पर संसार क्यों विद्रोह करने पर तुला दीखता है ! अपने अभावों की झोली लिये हुए जीवन के अमूल्य पल वेदना के अँधियारे में ही काटे जावें ?" —वाक्य को विस्तार से कहते हुए उसका गला रुक-सा आया।

"स्त्री का हृदय पुरुष से महान क्यों कहा जाता है, जानती हो ?"

"हाँ, जानती हूँ। वह ज़ब्त करनेवाली शक्तियों से अपने को अपने

दुख से भी ऊँचा बनाने की कोशिश किया करती है, लेकिन क्या तुम यह नहीं मानती कि स्त्री को जन्म से ही पापिनी और अपराधिनी बनकर रहना पड़ता है। उसके जीवन में छलछन्द का विस्तार होता है, आवश्यकता होती है। वह प्यार करती है अपने को धोखा देकर। क्या वह अन्दर से कोमल, किन्तु ऊपर से कठोर और हृदय को तिल-तिलकर दबाने की कोशिश नहीं करती ?"

इस प्रश्न में इतनी जटिलता थी कि शुभा निरुत्तर रही। कुछ क्षणों तक निस्तब्धता रही। आखिर कुछ सोचकर शुभा बोली—"तुम्हारे पागलपन ने तुम्हें एक प्रगाढ़ आवरण में लपेट रक्खा है, वहाँ मेरा किसी तरह भी प्रवेश नहीं हो सकता कह !"

"शुभा, शायद मेरे पास वह दृष्टि नहीं, जो अपना ठीक पथ और संसार का इंगित देखती और पहचान सकती"—अत्यन्त करुण और म्लान मुस्कुराहट के साथ करुणा ने कहा।

"क्या यह ठीक है करुणा, मनुष्य चाहता है कि उसके मन की उलझन दूर रहे, और वह उसे सुलझाने में असमर्थ रहता है और यों वह एक पहेली की सृष्टि करता रहता है ?"

"मानव-हृदय के कोमल भावों को इन सूक्ष्म तर्क सूत्रों से काटकर मुझे क्षुब्ध न करो शुभा ! जैसी जिसकी प्रवृत्ति और शक्ति होती है उसकी चर्चा किये बिना वह सन्तुष्ट नहीं होता।" रुँधे गले और छलछलायी आँखों से करुणा ने कहा।

शुभा चुप होकर निहारने लगी। करुणा के शब्दों ने उसके मर्म-स्थान को छू लिया था।

साँझ गाढ़ी होने लगी। करुणा के कमरे में टेबुल पर नौकर आकर डाक बिखेर गया। उन्हीं पत्रों में अनुराग की पत्नी छवि का भी लिफ़ाफ़ा था। करुणा ने लपककर उसे उठा लिया और खोलने लगी। कौन कह

सकता था कि लिफ़ाफ़े के अन्दर उसके नीरव अपलक प्रेम के जीवन का अन्त लिखा होगा—वेदना और क्षोभ भरे अक्षरों में।

ज़ोरों से धड़कते हुए अपने हृदय को दोनों हाथों से दबाये विस्फारित नेत्रों से पत्र को देर तक पढ़ती रही—ऐं! छवि यह क्या लिखती है?

"मेरी जाँ, लुट गयी मैं तो तुम्हारी मेहमाँ होकर!" शब्दों का अर्थ स्पष्ट था—"मेरी दुनिया को आग से भर देनेवाली, न जानती थी कि परिचय के प्रथम-प्रभात में ही हमारी उज्ज्वल—आलोकित दुनिया में घुसकर उसे घने अन्धकार से भर दोगी। हमारे ही ख़ज़ाने को हमारे सामने ही लूटने का यह कैसा साहस?"

हाथ से पत्र छूटकर गिर पड़ा। हृदय के कोमल कण बिखरने लगे। पत्र का व्यंग उसे बुरी तरह बेधने लगा। बात दिल के पार उतरने वाली थी!

वह क्या करना चाहती थी, क्या कर बैठी। अपनी दुर्बलता में पिसकर आज वह क्या कर बैठी? उसे दुनिया की नज़रों के सामने ऐसा नहीं करना चाहिये। अपने मौन भावों को उसे निर्लिप्त रखना चाहिये। अपनी अभाव की अकिंचनता वह क्यों अनायास प्रकट कर बैठी? सचमुच, क्या यह उसके लिये संगत था, उचित था? किसी की निधि को अपनाने में आग है, तो इस अनर्थ की ज़रूरत क्या थी?

निखिल प्रकृति की साँस जैसे रुकने लगी—संसार के चारों ओर के सुख-दुःख में उसके अन्तर का प्राण रो उठा। सड़क के कोलाहल से, हर ओर के रव से उसे यह शब्द सुनायी देने लगे—"मेरी जाँ .....!"

उसके हृदय में बवंडर उठा—यह कैसी विडम्बना है! यह कैसे अन-जाने में सब हो गया? वह तो नहीं चाहती थी कि संसार के सामने उसकी दुर्बलता प्रकट हो। कोई अनजान बटोही उसके जीवन की देहली

पर से होकर चला गया है अपने सजीव-हृदय के चिन्ह छोड़कर—तो क्या उसे यह चाहिये कि स्वप्नमयी अवस्था में उन चिन्हों की आराधना करने लगे ? उसे एकान्त-पथ में प्यार की कोमल अनुभूतियों के पाश से अपने को बद्ध कर ले ? यह कैसी उनींदी-अलस भावनायें हैं ? हृदय की यह कैसी विवश—आकुल अबाध गति है ?

जिसे नारी हृदय की महानता का, त्याग का गौरव हो, दावा हो, वह इस हल्केपन से क्या पावेगी ? मुँह बन्द रहने में, भारी रहने में, ढके ढके चलते रहने में भी तो एक प्रकार का सुख है ।

उसकी आँखों ने कुछ वर्ष पहले का दृश्य देखा—कौन सोच सकता है, स्वयं अतिथि बनकर रहने से आज वह लुट गयी अथवा कोई अतिथि बनायी जाकर लुटायी गयी ।

उसके हृदय की धड़कन बन्द होने लगी, श्वास रुकने सी लगी—कमरे से, प्रत्येक वस्तु से, मेज़-कुर्सी और फ़र्श से, छत से और दीवारों से आवाज़ काँपने लगी—"लुट गयी मैं तो तुम्हारी मेहमाँ होकर ।"

करुणा का सोया हुआ एकान्त सिहर उठा, आत्मा तड़प उठी । टूटे हुए करुण संगीत की तरह वह शब्द गूंज उठे और वायु की लहरियों से मिलकर तेज़ी से दूर तक फैल गये । वह सिसककर रो उठी, उसकी आत्मा पागलों की तरह लुटे हुए प्यार पर चीख़ रही थी । हवा में उसके स्वर की झनकार दूर कहीं नीरवता में जाकर खो रही थी । कौन उसकी इस समस्या को सुलझाने में समर्थ होगा कि स्वयं उस दीना की सम्पत्ति लुट गयी अथवा उसने किसी के ख़ज़ाने को लूटने का असफल प्रयास किया ?

उसके मुख पर विषाद और निराशा की कठोर रेखाएँ खिंच गयीं । किस अज्ञेय प्रेरणा ने उसे इस कठिन प्रवाह में बहा दिया ? कौन कह सकता है वह कहाँ पार लगेगी ?

उस एक पंक्ति की करुणा और दूरागत रागिनी ने बिखरे हुए कम्पन को बटोरकर उसके पीड़ा भरे हृदय को मसल दिया था, उसकी गहरी उसासों की प्रतिध्वनि इकट्ठी होकर गूँज उठी थी—वह शुभा से लेकर अनन्त आकाश के नक्षत्रों तक से भी एक बात न कर सकी।

इटर्नल टैङ्गिल

"देखती हो बहन, इनकी मस्तानी चाल को ! चल तो सभी रहे हैं, लेकिन इन्हें देखो, कैसे झूमते हुए चलते हैं !" माधुरी ने कहा ।

"इसमें क्या शक । सचमुच, चाल राजहंसों को मात करती है ।" हँसते हुए शीला ने उत्तर दिया।

सिनेमा देखकर सब लौट रहे थे । माधुरी, शीला और विनोद । तारों भरी रात थी । चारों ओर सन्नाटा छाया था । उसी सन्नाटे में वायु सर्राटे के साथ बह रही थी—जैसे किसी एकाकी हृदय में भावों के बवंडर उठा करते हैं, बीती हुई स्मृतियों के परदे उठते हैं और एक भीषण झंझावात चला करता है ।

भोजन के बाद शीला पान बनाकर लायी । माधुरी ने कहा— "बैठो बहन !"

विनोद को चाँदी के वर्क़ लगे सुगन्धित पान के बीड़े देते हुए शीला

ने उत्तर दिया—"न, क्या करूँगी बैठ कर। अब तुम लोग आराम करो।"

विनोद पान को कुछ समय तक देखता रहा, फिर मुस्कुरा कर बोला—यह पान जिन हाथों ने बनाये हैं, वह नुमायश में रखने क़ाबिल हैं।"

उसकी बड़ी बड़ी पलकें ऊपर उठीं और शीला की आँखों से मिलीं। शीला की तमाम लज्जा और संकोच सिमट कर आँखों में आ गया। वह विनोद की ओर देख न सकी, ठहर भी न सकी। माधुरी को उसके विनोद के साथ आराम करने की शह दे अन्दर भाग गयी और अपनी शय्या पर करवटें बदलते हुए अनेक तरह के प्रश्नों से हृदय टटोलती रही। बड़ी रात तक उसे नींद नहीं आयी।

प्रभात की मन्द समीर ने उसे गुदगुदाया। चौंक कर सपना देखती हुई सी वह जाग पड़ी। संयत हो कर बाहर गयी। माधुरी और विनोद अभी सोये ही पड़े थे। उससे वहाँ खड़ा नहीं रहा गया। बग़ीचे में जा कर वह फूल चुनने लगी।

विहग-बाल अपने कलरव से संसार के जागरण को मधुर बना रहे थे। मन में एक उल्लास भरने वाली हवा डोल रही थी। फूलों से लदी हुई हरियाली और सौरभ की मादकता उस वातावरण को मोहक बना रही थी। शीला कोमल भावों के आवेश में थी। फूलों का गुलदस्ता बनाकर उसने फूलदान सजा दिया। विनोद और माधुरी भी जाग पड़े। माधुरी ने कहा—"यह फूल तो बड़े सुन्दर हैं बहन!"

विनोद ने किञ्चित मुस्कुरा कर कहा—"क्या इन फूलों सा ही मनुष्य का जीवन नहीं हो सकता?"

शीला बोल उठी—"यह क्षण भर के लिये ही खिलकर मुरझा जाते हैं, लेकिन मनुष्य का जीवन? उसकी तो शमा की तरह रोते रहने में ही सार्थकता है।"

विनोद ने एक हलकी निःश्वास फेंकते हुए उत्तर में कहा—"हाँ, कुछ ऐसा ही है। यह हृदय ही हमारे जीवन का अभिशाप है।"

शीला के हृदय में जैसे गूँज उठा—"यह हृदय ही हमारे जीवन का अभिशाप है।" और एक मन्द मलय पवन के झकोरे के साथ भीनी हूक सी उठ गयी। उसके हृदय में एक तीव्र अनुभूति का समावेश हुआ, जिसे वह स्वयं स्पष्ट न कर पायी।

× × ×

दो सप्ताह बाद माधुरी और विनोद शीला से विदा लेकर अपने घर चले गये। शीला को लगा जैसे वह उनके प्यार का गाढ़ा आवरण लपेट कर बैठी हुयी है। उनकी स्मृतियों को वह दूर अवश्य करना चाहती है, पर वह हो नहीं पाती।

वह सोचने लगी, इतना प्यार, इतना मोह क्यों? जीवन में बहुत-कुछ जीवन से दूर रहता है—इतना दूर, कि उसके अस्तित्व तक पर सन्देह होता है। उसकी हृदयस्थली के अन्तरतम प्रदेश से, जो एक सरिता अबाध गति से बह रही है, क्यों वह सारे विश्व को उसमें डुबो लेना चाहती है? क्यों उसकी कोमल भावनाएँ उठ कर समस्त तरुण हृदयों में बिखर जाना चाहती हैं? उसके हृदय के खज़ाने में जो प्रेम नाम की सम्पत्ति है, उसे वह क्यों लुटाते चलना चाहती है?

इन्हीं अन्धड़ों में होकर जीवन बह रहा था कि उसके जर्जर हृदय को चूर चूर करने वाले, भीषण वास्तविकता से पूर्ण जीवन में गहरी दुःख-रेखा खींच देने के लिये दो पत्र उसे मिले। एक माधुरी का था, दूसरा विनोद का। माधुरी ने लिखा था—बहन, जानती हूँ उनकी सौन्दर्य की आँच से पिघल जाने वाली प्रवृत्ति को। उनके प्रेमपूर्ण स्वभाव से परिचित हूँ। परन्तु हृदय में मेरे इतना विश्वास है कि मैं उनके हृदय की रानी हूँ। वह मुझे हृदय से प्यार करते हैं। कोई शक्ति उन्हें मुझसे

विमुख नहीं कर सकती। उनका प्यार मुझ पर वैसा ही अक्षुण्ण रहेगा, भले ही वह किसी अन्य को अपना प्यार देने को प्रस्तुत हो जायें। किन्तु प्रौढ़ वय में भी प्रेम की पिपासा जाग्रत रहती है, यह मैं न जानती थी। ख़ैर, मुझे क्या।"

और विनोद का पत्र—

प्राणों के स्तर स्तर में बसनेवाली मेरी अभिन्न हृदये.........!

कुछ एक शब्द और आकर क़लम की जीभ पर रुक रहे हैं, कुछ तो लाजवश और कुछ भय वश। प्रेम अन्धा होता है। आज कुछ अनुचित भी लिख जाऊँ तो कुछ आश्चर्य नहीं। पर तुमसे क्षमा भी नहीं माँग सकता। कह लेना— शोहदा है, लोफ़र है! पर आज तो इस दीवा-नगी में तुम्हें जैसे होगा वैसे सम्बोधन करूँगा। क्योंकि मैं जानता हूँ कि सम्बोधन में उस शक्ति का अभाव है, जो तुम्हें बरबस खींचकर मेरे हृदय के पास कर दे और तुम्हारे गरम-गरम ज़ोर-ज़ोर से चलते साँसों से मेरे हृदय को शान्ति मिले। अगर तुम.........!"

नहीं बयान कर सकती शीला की इन दोनों पत्रों को पढ़कर उसे क्या हुआ? कितने क्रोध से उसका सर्वांग जल उठा, कितने दुःख से वह पिघल उठी, कितने अपमान से वह व्यथित हुई और कितनी लज्जा से वह सिहर उठी। कितने क्षोभ के, व्यथा के, ग्लानि के आँसू उसके गालों पर बहकर रेखांकित हो गये और वह विस्मय विमूढ़ होकर सोचने लगी—माधुरी उसके हृदय पर यह वज्राघात क्यों करती है? क्या प्रेम करना पाप है, जो किसी वासना से नहीं वरन् सहृदयता से हो जाय? मैं विनोद को चाहती हूँ, वह बिना बुलाये मेरे हृदय के समीप आ गया है, तो प्रेम की उमड़ती हुई सरिता के दोनों कूलों पर बैठकर एक दूसरे का हृदय देखने का प्रयास घृणाजनक क्यों कहलाता है? और मैं सुन्दरी तो किसी तरह नहीं कही जा सकती। अपने यौवन अथवा सौन्दर्य से किसी

का हृदय खींचना तो मेरे लिये असम्भव है, आकाश कुसुमवत है। मेरे पास तो केवल प्रेम है, दिल के ख़ज़ाने में मात्र यही सम्पत्ति है। दुनिया उसे लुटाते देख भले ही मेरे स्वच्छ प्रेम को ठुकरा दे। मैं पत्थर हो जाना चाहती हूँ, हृदय से उसके प्रति एकत्रित प्रेम को निकाल कर फेंक देना चाहती हूँ—माधुरी के निमित्त। किन्तु क्या मैं ऐसा करने में समर्थ हो सकूँगी ? मैं समझती हूँ, विनोद को, माधुरी के जीवन-धन को प्रेम की दृष्टि से देखकर मैंने भूल की है, किन्तु क्या एक भूल मेरी सारी मानवता को ढाँक सकती है ? क्या दुनिया में बिना किसी वासना के प्रेम पवित्र रह ही नहीं सकता ? कोई उसके पवित्र प्रेम को कलंकित और कुत्सित भावनाओं से क्यों देखे ? प्रेम का मापयन्त्र तो कोई है नहीं, कौन जान सकता है किसके जीवन में कितना प्यार लुट जाता है और फिर कितना धीरे धीरे आकर संचित हो जाता है ? जीवन की धूमिल वेला में, प्यार के बचे हुए आलोक में जो विनोद आकर झलक गया है तो उसे निमेषमात्र देख लेना भी पाप क्यों ? जिस प्राप्य प्रणय से जीवन का शून्य अंश वह नहीं भर सकी तो भावनाओं के अन्तराल में बैठी हुयी शीला क्या करे ? उसकी कोमल अनुभूतियों को एक-एक पदाघात से चूर करने वाले अपनी कठोर भाषा में क्यों बोल उठते हैं—"प्रेम करना पाप है !"

और यह विनोद ? आह ! यह क्या लिखता है ? यह कैसी विडम्बना है ? क्या दुनिया में किसी भी भाव से किया हुआ प्रेम इसी वासना का सूचक है ? क्या दो हृदयों का सामीप्य बढ़ाना, मैत्रीभाव से दो हृदयों का एक दूसरे को सुख-दुःख की गाथा सुना कर अपने को हलका कर लेना स्वस्थता नहीं है ? उफ् ! अपनों से जो सुनने की आशा न थी, वह सुनकर उसका ठेस खाया हुआ मन उमड़ चला। वह निर्मोह आज उसकी काल्पनिक सृष्टि में भी अपने समर्थन के लिये बाध्य कर रहा था। आज

शीला के हृदय की व्यथाओं की नाप किसे है ? दुःख, पीड़ा और निरक्तिमय वातावरण में पली हुई शीला की वेदना कोई क्या जाने ?

इन दिनों विनोद शीला के ही शहर के क़रीब आ गया है, तो कभी-कभी मिलना हो ही जाया करता है। शीला सोच रही है, विनोद आयेगा तो आज सब कुछ कह दूँगी; तुम मेरे जीवन में क्यों आये अपना आकर्षक व्यक्तित्व लेकर ? परिस्थितियों ने मुझे आज अपने हृदय से विरोध करने के लिये बाध्य किया है। मैं नहीं चाहती कि कोई मुझे प्यार करे, किन्तु प्रेम की भूखी मानवता ने मुझे ठगा दिया। दो दिन के जीवन में एक दूसरे से स्नेह करके उसे असहनीय आग से भर लिया ! जानती हूँ जीवन में विश्राम की शीतल छाया नहीं मिलने की। अच्छा है, तुम मेरे मानसिक विप्लव को न देख सको, मुझसे दूर रहो। तुम पर मेरा मित्रभाव, निष्कपट-भावना न प्रकट हो सके। यह संसार मुझ जैसों के लिये प्रेम करने की जगह नहीं है, फिर तुम भी तो इस संसार से परे नहीं हो ? बस, मुझे क्षमा करो।"

वह इन्हीं विचारों में लीन बैठी है। नहीं कह सकती, उसका वह संकल्प कभी पूरा भी होगा ?

'सूली ऊपर....'

छुट्टी का दिन था। हल्के नीले आसमान से हेम-रश्मियाँ कुंकुम लिये उतर रही थीं उस दिन मधुवन देर से उठा था। हाथ मुँह धोकर बैठा ही था कि नौकर ने चाय की ट्रे लाकर टेबिल पर रख दी। वह प्याले को होठोंसे लगाकर खुली खिड़कीसे सामने की ओर देखने लगा। भिन्न-भिन्न आवाज़ों से खोनचेवाले, फेरीवाले पुकार लगाते हुए इधर से उधर घूम रहे थे। जन-कोलाहल-मुखरित मार्ग पर एक विचित्र प्रकार की अनुभूति की तरंग उठती हुई उसे जान पड़ी। जैसे प्रत्येक आने जाने वाला अपने में एक विस्तृत संसार बसाये, ऊपर से संकुचित चला जा रहा है। सब अपने में ही जैसे बन्द हैं, सम्पूर्ण हैं। किसी के लिये कोई पल भर रुक नहीं सकता, एक दूसरे को देख नहीं सकता, सुन नहीं सकता-किसी को किसी के लिये अवकाश नहीं, ग़रज़ नहीं। जैसे इस पथ पर चलते जाना ही सबका एकमात्र ध्येय है।

सहसा उसका ध्यान टूटा। खिड़की के सामने उसने एक दुर्बल-काय, लुटती हुई यौवन-निधि को मलीन वस्त्रों में लपेटे, गेहुँए रंग की स्त्री को देखा। वह अपने सिर पर एक छोटा टीन का सन्दूक लिये हुए खड़ी, करुणा-कोमल स्वर से पूछ रही थी—"चाय की प्यालियाँ लोगे बाबूजी?"

नेत्र विस्फारित कर मधुवन उसे देखने लगा। उसकी शकल कुछ पहचानी सी जान पड़ी, स्वर कभी के सुने हुए से। उसने पहचानने की कोशिश करते हुये कहा—"हाँ,हाँ, देखें।" वह दरवाज़े के पास आ गयी। सिर पर से सन्दूक उतार उसमें से ख़ूबसूरत से रंगीन फूल बूटेदार चाय के कप्स निकाल दिखाते हुए बोली—"एक धोती में एक प्याला मिलेगा बाबूजी!"

मधुवन उसके मुख को एकटक निहार रहा था। मन में जैसे कोई कह रहा था—"इसे तो कहीं देखा है, पर याद नहीं पड़ता कहाँ?" उसका वाक्य सुनकर वह कौतूहल से बोला—"धोती से? क्यों, क्या पैसे न लेगी?" एक क्षीण मुस्कराहट से वह, अपने छोटे-छोटे असुन्दर बालों को, जो सन्दूक उतारते समय माथे तक फैल गये थे, समेटते हुए बोली—"पैसे नहीं लेती बाबूजी, मुझे तो फटी पुरानी धोतियाँ और कुरते ही चाहिये।"

"उन्हें क्या करेगी?"

"पड़ोस में बिसाती रहते हैं। उन्हीं को देकर यह ख़रीदती हूँ। वह इन कपड़ों से गुड़ियाँ, हुक्के तथा कपड़े के खिलौने वग़ैरह बनाते हैं।"

"अगर कोई कपड़े न दे तो क्या पैसों से न देगी?"

"नहीं बाबूजी, मुझे तो कपड़ों की ही ज़रूरत है।"—कहकर उसने मुँह नीचा कर लिया।

कुछ सोचकर मधुवन उससे ठहरने को कहकर अन्दर गया।

रानी को पुकारकर कहा—"रानी, एक आध फटी पुरानी धोतियाँ हों तो दे दो, चाय के प्याले ख़रीदूँगा।"

"हाँ, वही औरत आयी होगी ? उधर होली के बीच भी तो आयी थी। मैंने दो तीन जार ख़रीदे थे। क्या करोगे चाय के प्याले ? तमाम तो रक्खे हैं !"—रानी ने कहा।

"होगा, दो-चार और ले लूँ। बेचारी ग़रीब औरत है !"—दयार्द्र भाव से मधुबन बोला।

"तुम्हें दुनिया भर की औरतें ग़रीब ही मालूम पड़ती हैं। यह लोग जाने कितना ठग ले जाती हैं। दूने दाम पर कपड़ा बेच लेती हैं। लेकिन तुम्हें क्या ? देखा औरत, बस समझ गये ग़रीब है। यह क्यों नहीं कहते कि कोई आँख लगी है। रोज़ इधर आती है"—रानी व्यंग से कटाक्ष कर बोली।

"छीः रानी, कैसा मज़ाक़ तुम्हें सूझा करता है। रानी बनी बैठी हो न, तभी ऐसा समझती हो। पेट के लिये गली-गली घूमना पड़े तब न जान पड़ता है। लाओ दो, एक धोती मेरी ही निकाल दो। तुम अपनी न दो।"

भृकुटी चढ़ाती हुई रानी ने चार धोतियाँ निकालकर फेंक दीं। मधुवन उन्हें लेकर बाहर गया, देखा, वह सिर झुकाये किसी चिन्तन में लीन है। मुख पर एक करुण भाव फूटा आ रहा है, आँखों में सजल कातरता !

धोतियाँ उसकी सन्दूक़ पर रखते हुए मधुवन बोला—"तू कब से यहाँ आती है ? तेरा घर कहाँ है ?"

चौंक कर उसने मुँह उठाया, मृदु स्वर में उत्तर दिया—"मुझे ? क़रीब ६ महीने के हो गये। अब तो यहीं एक गाँव में रहती हूँ। पहले लखनऊ.........कहते कहते वह रुक गयी।

"जान पड़ता है तुझे कहीं देखा है ?"

उसने अपनी करुणारंजित पलकों के भीतर ही से उसे देखा। आँखों से एक गूढ़ रहस्य, मधुर भाव, एक मीठा संकोच सा झलक उठा। उसके होंठ स्फुरित हुए, कम्पित वाणी ने विहँस कर उत्तर दिया—"हो सकता है, कहीं देखा हो !" यह वाक्य मधुवन के अन्तर में प्रतिध्वनित हो उठा। जैसे उसमें अतीत-इतिहास के पृष्ठ की खोज निहित हो, बेपहचान के व्यक्ति का परिचित प्रेम छिपा हो !

कुछ सोचती सी वह मौन थी।

मधुवन जिज्ञासा से चंचल हो उठा था। उस स्त्री के शब्दों ने उसके मर्म को छू लिया था। वह उसका परिचय पाने का लोभ संवरण न कर सका—कवि और दार्शनिक था न वह युवक ?

किसी अज्ञात प्रेरणा से प्रेरित हो बोला—"तुम्हारा नाम क्या है ?" स्त्री का हृदय स्पन्दित हो उठा। कातर वाणी में बोली—क्या करोगे मेरा नाम जानकर बाबूजी ?" और एक धीमी सी ठंढी निश्वास फेंक कर वह जल्दी जल्दी चोलियाँ तह कर, सन्दूक से प्याली निकाल उठ खड़ी हुई !

जाते जाते उसने एक बार फिर घूमकर खिड़की से अपनी दृष्टि मधुवन की दृष्टि से मिलायी और फिर आगे बढ़ गयी तेज़ी से।

× × ×

एक पहर रात बीत चुकी थी। आकाश में चन्द्रमा अपनी चाँदनी को लिये जाग रहा था। निस्तब्ध गाँव के गम्भीर वातावरण में अपने फूस के छप्पर के नीचे खाट पर लेटी हुई कोइली से, उसकी अन्तरंग साथिन राधा, कान में मुँह लगाये धीरे धीरे कह रही थी—"तो कोइली वह भी तुझे चाहते थे कि नहीं ?"

"राधा, उनकी वह आँखें मुझे नहीं भूलतीं। मैं नहीं जानती कि

उनकी उन बड़ी बड़ी छलकती आँखों में प्यार का संदेशा था या छल ! पर वह मीठी चितवन ! आह !! कैसी उस दिन की वह घड़ी थी ? राधा, कुँवर साहब के यहाँ, जिनके यहाँ मैं छुटपन से नौकर थी, उनकी बेटी के ब्याह में वह आये थे मेहमान बनकर ! तुझसे मैं क्या बतलाऊँ उनका वह रूप, राधा ! उनके सुन्दर शरीर पर वह सादी पोशाक कैसी खिलती थी। उनके लहराते हुए अंगों का वह खिंचाव, उनके चमकदार घुँघराले बालों से खुशबू निकलकर जी को बेचैन कर देती थी। उनकी मतवाली आँखों की दृष्टि जैसे कलेजे के अन्दर तक उतर जाती थी। वह तस्वीर बनाते थे, राधा। अपनी बनाई तस्वीरें वह बहू रानी को दिखाते थे, तो दूर से मैं भी देखने को पा जाती थी। कितनी सुन्दर थी उनकी हाथ की कारीगरी। कमरे में अकेले में बैठकर कभी कभी वह गाते थे। कैसी सुरीली थी उनकी रागिनी। राधा सच कहती हूँ तुझसे, मैं छिपकर कोने में, आड़ से सुना करती थी, उनको देखा करती थी।

बीच में बोल उठी राधा—"तो तू उनके सामने जा कैसे पाती थी कोइली ?"

"एक दो दफ़े ! सैकड़ों दफ़े उनके सामने पान देने, पानी देने, भोजन के लिये बुलाने, पलँग बिछाने, कमरा साफ़ करने, हज़ारों काम से जाना पड़ता था। वह नहा कर चले जाते, तब उनकी धोती कचारने मैं ही जाती। तुझसे सच कहती हूँ राधा, उनके हर कामों से मुझे बड़ा आनन्द आता था। जी होता सदैव उनके ही काम में लगी रहूँ और जब वह मुझे प्यार भरी चितवन से देख कभी कह देते—"तू तो बड़ा काम करती है कोइली।" तो मेरी आँखें उनकी आँखों से टकराकर नीचे झुक जातीं। मैं लज्जा से मुस्कुरा कर भाग जाती। एक दिन उनका बिछौना बिछाते समय मैंने, सच राधा, पास ही आलमारी में रक्खी हुई गुलाब-जल की बोतल निकाल चुपके से उनके तकिये पर छिड़क दिया। रात्रे

उन्होंने—मैं कह नहीं सकती क्यों ! शायद उसी बात को लेकर—उन्होंने मुझे एक मीठी मीठी चितवन से देखा था, मुस्कुरा कर। ओह ! मुझे रोमांच हो आया था राधा। और सुनती हो, उनके पान बनाते समय मैं उनके पान में सुगन्धित मसाला ज़्यादा सा डाल देती, उनके सिगरेटों का डब्बा ख़त्म होते ही दूसरा झट पहुँचा आती थी। वह सिगरेट बहुत पीते थे,मैं उनके टेबिल पर से ऐश ट्रे में से उसकी राख लेकर सूँघा करती। मुझे उसमें से अजीब तरह की महक निकलती जान पड़ती। उनके कमरे को साफ़ करके, उनके कपड़ों को ठीक करके रखते हुए मैं सुध बुध भूलकर यह चाहती कि मैं उनकी होती ! काश, वह मेरे होते !'

"वह क़रीब डेढ़ हफ़्ते ही रहे थे। लेकिन न जाने किस जादू से उन्होंने मेरे मन को पागल बना दिया था। तुमसे मैं क्या क्या बताऊँ राधा ! क़सम खाकर कहती हूँ कि उनके चले जाने के बाद मैं बेसुध सी दिन रात सपना देखा करती। काश ! उन्हें पा सकती ! वह मुझसे कितनी दूर थे ! वह आकाश के चन्दा थे तो मैं ज़मीन की धूल ! मैं उन्हें कहाँ पा सकती थी, कब पा सकती थी। सदा इन्हीं विचारों में डूबी रहती। मेरा किसी काम में जी न लगता। कितना जी को समझाती कि यह ख़याल उचित नहीं है। लेकिन वह न मानता। एक नौकरानी के लिये भी ऐसी संभावना पैदा हो सकती है, यह दुनिया के अनुमान के बाहर की बात थी। पर बहस से क्या मतलब, बहस के हज़ार रास्ते हैं, मेरे दिल में तो एक प्यार था। और बस मैं उसी प्यार के रास्ते पर अपना सब कुछ गवाँ बैठी।

"बातों-बातों बहूरानी से उनका पता पूछती, वह कौन हैं ! कहाँ रहते हैं ! कब आयेंगे ! डरते-डरते पूछती कि कहीं किसी को मेरे इस अनुचित व्यवहार पर सन्देह न हो जाय, मेरी इस अधिकार के बाहर की बात पर क्रोध न आ जाय। पर तिस पर भी कभी-कभी बहू-

रानी झल्ला ही उठतीं, झिड़ककर कहतीं—"तुझे क्या पड़ी है बीच में बोल उठती है ? जा अपना काम कर !" राधा, जैसे मेरा—नौकरानी का—कोई दिल ही नहीं, दिमाग़ ही नहीं। मैं कोई चीज़ ही नहीं हूँ। काम, केवल काम। जैसे मेरा शरीर मशीन है, दिल मिट्टी है। मेरे अन्दर जैसे कोई इच्छायें नहीं, कोई ललक नहीं, गुदगुदी नहीं, कोई भाव ही नहीं। राधा, सच कहती हूँ। इस रूखे व्यवहार पर मेरा जी अन्दर ही अन्दर कचोट उठता, प्राण मेरे जैसे रो उठते—जी चाहता इसी क्षण नौकरी पर लात मारूँ और इस गुलामी की ज़िन्दगी को त्यागकर कहीं कुएँ ताल में जाकर डूब मरूँ। लेकिन न जाने क्यों मैं सब्र का घूँट पीकर रह जाती। हाय ! न जाने किसके लिये ? माँ मर ही चुकी थी, बाप अकेला रह गया था। भाई नालायक निकल कर छोड़ चुका था। अलग खाता, अलग कमाता। उसे ताड़ी और जुए ने ख़राब कर दिया था। रह गयी थी मैं—बाप ने उस मालिक के यहाँ नौकरी करते-करते उम्र गुज़ारी थी—मैं कैसे उस चाकरी से मुँह मोड़ सकती थी। वही तो हम अभागों के पेट का धन्धा था। लेकिन कुछ न पूछो राधा, जब से वह आये, मैं तो कहीं की न रही। मेरा सब कुछ लुट गया। बौने की चाँद पकड़ने की कोशिश। हाय ! कितनी दुखदायी और व्यर्थ होती है राधा, इसे कौन समझे ! दुनिया तो हँस देगी घृणा से, उपहास से व्यंग से।

ज़िन्दगी के आख़िरी दिनों बाप ने मेरा ब्याह कर दिया। लेकिन मन में वह जो स्वर्ग की एक मूरत बसा ली थी। उसे वह भी न हटा सका—जिसके साथ मेरा सारा जीवन बाँधा गया। दस वर्ष होते आते हैं गौने के मेरे राधा, पर उनके किसी व्यवहार से, मेरे मन में खिंचाव नहीं पैदा हुआ, उनकी तरफ़ ! उनकी निकटता से मुझे प्रेम का संदेशा नहीं मिला। उनके स्पर्श से मेरी देह में सिहरन नहीं हुयी, उनके प्रेम से मेरे मन में लहर नहीं उठी। मन को वह किसी तरह जीत नहीं सके।

आज चार वर्षों से वह बम्बई में हैं पर मुझे उनकी याद पागल नहीं बनाती। उनके बिछोह से अधीर होकर मैं नहीं रोती, यह एक सत्य है। राधा, उनकी चिट्ठियाँ आती हैं। वह लिखते हैं—मैं जल्दी आऊँगा, घबड़ाना नहीं कोइली। लेकिन मैं अपने मन में कहती हूँ, तुम अच्छे रहो, चाहे जब आओ, मेरे उस मन को जो न जाने कहाँ अनजाने में खोगया तुम क्या कभी लौटा भी पाओगे? राधा, सब कुछ होते हुए भी उनका मैं अमंगल नहीं चाहती हूँ। वह जहाँ रहें अच्छे रहें, सुख से रहें। मुझ अभागिन के अब वही तो अवलम्ब हैं। उन्हीं के बल पर तो ज़िन्दगी के दिन काटूँगी। उनके बिना तो चारों तरफ़ और भी घना अँधेरा है राधा, लेकिन उनके साथ छल करके अपना यह सुख भी मैं कब तक रख पाऊँगी। यही सोचकर मैं पागल हो जाती हूँ राधा..." एक उच्छवास के साथ कोइली तनिक रुक गयी।

राधा ने प्रश्न किया—"वह कौन सा सुख है तेरा कोइली?"

"वह सुख पूछती हो राधा? बड़ी तपस्या के बाद वह सुख पाया है। जानती हो जब मैं गौने के बाद यहाँ आयी। उनकी याद दिन रात मुझे सताया करती। मुझे इतना तो मालूम ही था कि वह कानपुर में ही रहते हैं, पर कहाँ रहते हैं यह मैं नहीं जानती थी। एक दिन गंगा स्नान के पर्व पर बहूरानी मुझे मिल गयीं, उनके साथ वह भी थे। उनका पता मुझे मालूम हो गया राधा, और बस तभी से उनकी मात्र एक झलक पाने के लिये मैंने अपना यह पेशा बना लिया। वहाँ वह जो नूरा रहता है न उससे मैंने कुछ शीशे के बरतन ख़रीद लिये, और उन्हें बेचने के बहाने उनके मोहल्ले में जाने लगी। मन ने कहा—वहाँ उनके द्वार तक पहुँच ही जायगी। उनके दर्शन के लिये दर दर भटक कर मैंने उनका पता पा लिया। दो एक बार उनकी घरवाली ने मुझसे बरतन ख़रीदे। मैं बदले में कपड़े लेती थी। एक दिन वह मुझे ख़ुद ही मिल गये, मेरी जन्म जन्म

की आशा पूरी हुई। वह चाय बहुत पिया करते थे, मैंने उन्हें चाय की प्यालियाँ ही दीं। बदले में वह पैसा देना चाहते थे। लेकिन मैं पैसा क्या करती राधा, मुझे तो उनकी निशानी चाहिये थी। जिसके सहारे जीवन की यात्रा पूरी कर लेती। उन्होंने मुझे देखा, पहचानने की कोशिश करते हुए बोले—"तुझे कहीं देखा है ?" पर मैं क्या बताती उन्हें, राधा! कि तुमने मुझे कहाँ देखा है ! और किस तरह अनजाने में मेरा मन चुरा ले गये हो! तुम्हें अपनी ज़िन्दगी का भेद क्या बताऊँ ? और वह जानकर भी क्या जानते ? दुनिया क्या जान सकती है कि एक नीच गुलाम जाति के भी दिल होता है। और उस दिल के अन्दर प्रेम की लालसा होती है। लेकिन ऊँची और बड़ी कहलानेवाली जाति, इसे कैसे जान सकती है ? और फिर हमें यह बताने का हक़ ही कौन है ?

"राधा, उनके यह वस्त्र लेकर मैं चली आयी ! मुझ भिखारिन के लिये उनकी इतनी भीख ही काफ़ी थी। उनकी एक झलक किसी न किसी तरह सड़क पर से आते जाते खिड़की में से कभी कभी मिल जाती है। बस इतना ही काफ़ी है, चुपके से उन्हें बैठे देखकर आँखों की प्यास बुझा लेती हूँ इसीलिये यह व्यापार किया है राधा ! तुम जानती हो उनके वस्त्र लाकर मैं क्या करती हूँ ? देखो, यह तुम्हें दिखाती हूँ—कहकर उठी, अन्दर कोठरी से एक सन्दूक़ उठा लायी इसमें से तह किये हुए स्वच्छ दुग्धफेन सदृश पवित्र वस्त्र निकालकर दिखाने लगी। उसमें से सुगन्ध की लपटें निकल रही थीं, बोलने से पहले उसकी आँखों से दो बूँद गोल गोल मोती से गरम गरम आँसू टपक पड़े—भरे हुए गले से बोली—"राधा, बर्तनों के बदले में पाये हुए और सब वस्त्रों को तो मैं बेच देती हूँ। पर उनकी यह धोतियाँ हैं, कुरते हैं देखो राधा ! इन पर मैंने रेशम से यह उनका नाम काढ़ा

है—'मधुवन'। कैसा सुन्दर नाम है 'मधुवन' और इसे सुगन्ध से सुवासित किया है। जानती हो राधा, रात को जब सारी दुनिया सुख की नींद सोती है, मैं इन वस्त्रों को कलेजे से लगाकर आँसुओं से भिगोती हूँ, चूमती हूँ, लिपटकर सिसकियाँ लेती हूँ—और तब, जब मेरे जी की व्याकुलता इससे कुछ हलकी हो जाती है, चुपचाप मौन होकर एकटक निहारा करती हूँ। यही मेरी नित की क्रिया है। उनके नाम के इन अक्षरों में से मुझे उनकी उस सुन्दर मूर्ति की आभा फूटती हुई जान पड़ती है। मुझे लगता है, मैं उन्हें पा गयी हूँ। वह मेरे समीप हैं। मेरे इस स्वर्ग के सुख को कौन जान सकता है। अन्धी दुनिया इसे क्या जाने? छोटे और बड़ों की, नीच और ऊँच के तराज़ू पर सबको तौलनेवाली दृष्टि से यह सुख परे है। लेकिन राधा, यही मुझे दुःख है कि कुटिल दृष्टियों से मेरा यह कार्य कब तक छिपा रह सकेगा? कब तक दुनिया की नज़र बचाकर इस आनन्द का उपभोग कर पाऊँगी?

नहीं जानती हूँ कब तक इस तरह दिन बिता पाऊँगी। बम्बई से उनके लौट आने पर मेरी इस क्रिया में बाधा कब तक न पड़ेगी? पड़ेगी और ज़रूर पड़ेगी। वह भला कब इस व्यापार को सहन कर सकेंगे राधा? इसीसे तो चाहती हूँ कि मेरी मृत्यु हो जाय, मैं इस दुनिया से ही उठ जाऊँ। क्योंकि पति के साथ इस तरह छल करके कब तक रह सकती हूँ। उसे धोखा देकर भी तो मुझे शान्ति न मिलेगी। आज तक जो छिपाती आयी हूँ उसे प्रकट करके भी तो मैं अपने पापी जीवन की कालिमा नहीं धो सकती हूँ। दुनिया इसे क्या कहेगी? अपनी आत्मा की हत्या करके भी तो मैं दुनिया को खुश नहीं रख सकूँगी राधा! इसी से तो कहती हूँ मेरा मर जाना ही अच्छा है। मैं जल्दी-से-जल्दी मर जाना चाहती हूँ......" उसके कलेजे का

उच्छ्वसित आवेग फूट निकला। उसने दोनों हाथों से मुँह ढाँप लिया और राधा के कन्धों पर अपने सिर को टेककर सिसकने लगी।

× × ×

पहाड़ सा एक वर्ष और निकल गया।

रघुवीर बम्बई से लौट आया था। पर हिमालय में बढ़ी हुई गंगा का वेग कहीं बाँधे से रुकता है? कोइली का उस स्थिति में रहते रहते मस्तिष्क विकृत हो गया। प्रिय की स्मृति भावना उसके दिमाग में प्रति निमिष भरी रहकर उसे विक्षिप्त बना चुकी थी। प्रेम की आँधी से उसका कोमल नारी हृदय टूटकर गिर चुका था। प्रिय की इन्द्रधनुषी दृष्टि से उसकी दृष्टि का क्षितिज जब स्पर्श न पा सका—अभिन्नत्व में भिन्नत्व का पल भर का अभिनय न हो पाया—तब उस पार्थक्य ने अपना भयंकर और विकराल रूप धारण कर लिया। जब मर्मस्थल की उत्तेजनाओं ने हृदय को आन्दोलित कर दिया, तब शैथिल्य के उन्मादक नशे से, निराशा से जर्जर होकर अपना समस्त आशा अभिलाषाओं को जीवन के अभिशाप के ताप में भस्मीभूत करके कोइली प्रिय के मन्दिर द्वार पर अपनी जीवन तन्त्री के प्रत्येक तारों को खींच कर बजाने लगी।

× × ×

"मोरा दरद न जाने कोय"—बड़े मार्मिक स्वर से बैठी पगली गा रही थी उस बड़े मकान के सामने। रूखे बिखरे बाल, चेहरा मुरझाया हुआ, आँखों की पुतली पानी में तैर सी रही थी। घुटनों पर अपना सिर टेके, ज़मीन पर बैठी वह गाती चली जा रही थी—जैसे उसके गीत का तार कभी टूटेगा ही नहीं। बच्चों की, जवानों की, बूढ़ों की भीड़ सी इकट्ठी हो गयी थी। कोई ताली बजा कर हँसता,

कोई ढेला फेंककर मारता, कोई दूर से ही दुतकारता, मगर पगली को तो किसी ओर देखना तक नहीं है, सुनना तक नहीं है। वह तो अपने गीत में मग्न है......सूली ऊपर सेज पिया की......

सहसा दुमंज़िले पर से किसी युवक ने, उसे देर से बैठी देख पुकारकर कहा—"क्या लेगी? क्या चाहिये तुझे?"

पगली की भयावनी आँखें ऊपर उठीं, विस्फारित नेत्रों ने किसी परिचित का रूप सन्धान करने का विफल प्रयास किया। मन ने कहा—'यह नहीं है!' आँखों ने कहा—'नहीं पहचान!'

"तुम तो वह...नहीं हो? वह तो...थे मधुवन! हाँ...हाँ... मधुवन! घूरते क्यों हो? तुम...तुम वह नहीं हो? हाँ, वह थे मधु-वन...मेरी आँखों में।"...... ...उसके होंठों से कुछ अस्फुट शब्द निकलकर हवा में खो गये, दो आँसू की बूँदें रक्तिम नेत्रों की ज्वाला बुझाती हुई सी धूल में निकलकर लुट गयी और वह निर्निमेष ताकती रही।

पास ही चबूतरे पर बैठे एक बूढ़े ने हुक्का गुड़गुड़ाते हुए कहा—यह पगली मधुवन बाबू का नाम क्यों ले रही है? वह तो कबके चले गये इस घर से।

पगली तीर सी उठकर एक ओर को चल दी। जाते जाते लोगों ने सुना एक भीषण अट्टहास और वही—"सूली ऊपर सेज पिया की, किस विधि मिलना होय"......की गूँज !!!

वायुमण्डल में उसकी प्रतिध्वनि प्रतिघोष कर रही थी। करुण स्वर लहरी काँप कर कराह रही थी—किस विधि मिलना होय.........!!!

प्रतिक्रिया

"रंजन !" मनहर ने आवाज़ दी ।

"आया"– कहता हुआ रंजन अपनी छत के पोर्टिको पर आ गया । उसने कहा—"आओ मनहर !"

मनहर खट खट कर सीढ़ी पर चढ़ आया, बोला—"चलते हो जी आज मिस्टरमाथुर के यहाँ वर्षगाँठ के उत्सव में ?"

"हाँ, हाँ चलो न" कहकर रंजन कपड़े पहिनने की तैयारी करने लगा । तैयार होकर दोनों ठीक समय पर मिस्टर माथुर के बँगले पर पहुँच गये । सात बजने में १५ मिनट बाक़ी थे, हॉल में सब लोग बैठे हुए थे, रेडियो खुला हुआ था, रंजन उसके पास ही एक ईज़ी चेयर पर जाकर बैठ गया और वहाँ पड़ी हुई प्रोग्राम-पुस्तिका के पन्ने उलट ही रहा था कि सहसा चौंक पड़ा । साढ़े सात बजे दिल्ली से लीला जोशी रेडियो सिंगर एक श्याम कल्याण ब्रॉड कास्ट कर रही थीं ।

रंजन के हाथ में पुस्तिका ज्यों की त्यों खुली पड़ी रह गयी। हृदय में एक तूफान उठा, वह अस्थिर हो गया। पीछे और बहुत से लोग थे, ज़ोरों से किसी विषय पर बहस चल रही थी, सभी भाग ले रहे थे। टेबिल पर जलपान की सामग्री सजायी जा रही थी किन्तु रंजन—ओह! वह रेडियो सुनने में तल्लीन दीखता सा, स्थान, स्थिति और अपने को भी भूल कर देख रहा था—लीला जोशी-रेडियो सिंगर—और मस्तिष्क में एक झंझानर्त्तन, हृदय में एक पीड़ा की मरोर, सब कुछ को भूल कर वह किसी ऐसे स्थान में पहुँच गया था, जहाँ वह अपने को भी भूल रहा था।

मनहर ने उसके कंधे को पकड़कर झकझोरा—"कहाँ, किस दुनिया में हो?"

रंजन अचकचा कर बोला—"क्या हुआ?"

मनहर हँस पड़ा, बोला—"इधर मुख़ातिब हूजिये!" और उसने उँगलियों से जलपान की टेबिल की ओर संकेत किया।

बदले में रंजन भी एक अन्यमनस्क मुसकान बिखेर कर जलपान की टेबिल पर बैठ गया।

घड़ी में ठीक साढ़े सात बज रहे थे कि मनहर ने टोका—"चलोगे न?"

कातर होकर रंजन आग्रहपूर्ण स्वर से बोला—"ज़रा देर और बैठो मनहर, यह गीत सुन लेने दो!"

मनहर ईज़ी चेयर पर पैर पसार कर सिगार फूँकने लगा। गीत शुरू हुआ—"कर गये थोड़े दिन की प्रीति.............................!"

माथा पकड़कर स्तब्ध बैठा था रंजन, उसका मस्तिष्क घूम रहा था, वही स्वर, वही लय, न मालूम कितनी दूर से कितने आवरण चीर कर कितना विषाद कितना दर्द बहा चला आ रहा था। लीला!

लीला ! न गा, यह प्रेमपीर के गीत, उसका अन्तर चीत्कार कर उठा । अब तक जो हृदय में अभाव की भीषणता की छोटी सी चिनगारी आवरण में लिपटी पड़ी हुई थी, इस समय फूंक लगते ही ज्वाला सी धधक उठी । उसकी मानस लहरियों में तर्क वितर्कों की हलचल मच गयी । ओह ! जीवन की भी कैसी शृंखला है, आज कौन सी अज्ञात-शक्ति की प्रेरणा उसे यहाँ तक घसीट लायी । लीला कितने दुख से भरा हुआ है यह स्वर तुम्हारा......कर गये थोड़े दिन की प्रीति......कितनी वेदना इस गीत के अन्तराल में निहित है...कर गये थोड़े दिन की प्रीति...... कल्पना की तन्मयता उसे लीला का साकार दर्शन करा रही थी । उसे जान पड़ा लीला बिलकुल मेरे समीप बैठी हुई गा रही है......कर गये थोड़े दिन की प्रीति......लेकिन वहाँ कौन था ? लीला तो उससे कोसों दूर थी, रंजन का मस्तिष्क चकरा गया । वह लुढ़कते लुढ़कते बचा । छलकती हुई आँखों को सबकी आँखों से बचा कर चुपके से उसने पोंछ लिया ।

गाना बन्द होने पर मनहर ने कहा, चलते हो अब ? मन्त्रमुग्ध सा रंजन उठ पड़ा, यन्त्रचालित पुतले की तरह उसके पीछे पीछे वह चल रहा था । मन में भावनाओं का अन्धड़ बह रहा था और अतीत जीवन की एक एक स्मृतियाँ बिजली सी कौंध रही थीं—पिता का दिल्ली में ट्रान्सफर होकर जाना, और फिर वह पड़ोस के प्रोफ़ेसर जोशी की पुत्री लीला से परिचय, उसका प्रतिदिन स्कूल जाते समय मिलना, उन अधींदी स्वप्निल आँखों का प्रेम-निमन्त्रण ! किसी अमर साधना के फल स्वरूप किसी अनवरत तपस्या के वरदान की तरह उसके प्रेम का अधिकारी होने का सौभाग्य ओह ! एक दिन जीवन में अमर विभूति की तरह लिपट गया था ! लेकिन पिता की मृत्यु, और कुचक्रों की आँधी से युग युग का निर्मित स्वर्ण-भवन का ढह जाना हाय ! कभी भुलाने का

नहीं। आज टूटे हृदय से जीवन का राग अलापता हूँ लेकिन यह तो व्यंग है, जीवन का उपहासमात्र है। संसार क्या जाने कि कैसी अव्यक्त वेदना, कैसा अमिट हाहाकार, कैसी अक्षय ज्वलन, जीवन को चारों ओर से घेर कर बैठी है। कैसी अपरिलक्षित शून्यता अहर्निश व्याप्त है। अनन्त मरुभूमि में प्यासे जीवन के अंचल में जल की दुराशा लिये लिपटा हुआ, यन्त्रणा की ज्वाला में झुलस रहा हूँ! ओफ़!! लीला! आज तुम मेरे संसार की परिधि से दूर किसी अज्ञात लोक से यह करुणा-ज्वलित रागिनी छेड़ रही हो? आओ न, हम तुम दोनों इस मानव जगत् की परिधि से दूर हो, एक दूसरे का हाथ पकड़, एक साथ ही किसी प्रलयाग्नि में कूद पड़ें? वह इन्हीं विचारों से उलझा हुआ धीरे धीरे चला जा रहा था, सहसा उसके बिलकुल क़रीब से एक मोटर हार्न देती निकलती दिखायी पड़ी। मनहर ने उसका हाथ पकड़ कर खींच कर कहा—"नशे में चलते हो? बाल बाल बच गये!"

"क्या होगा बचकर मनहर!"—करुण निराशा भरे स्वर में रंजन ने कहा।

"क्यों तुम्हें हो क्या गया है?"—आश्चर्य से मनहर बोला।

"तुम नहीं जानते मनहर!"

"जानता हूँ रंजन, लेकिन बार बार कहा है और फिर कहता हूँ इन बातों को भुला दो। यह जो हर वक़्त अन्दर से कुछ, सब कुछ को ठेल कर बाहर निकल आना चाहता है इसे एकदम मिटा दो।"

सहानुभूति पाकर रंजन का हृदय उमड़ आया, वह कहने लगा—"मनहर, इतने कठोर कैसे बन जाते हो? जानते हो मेरे जीवन में प्रेम नहीं है, सरलता स्निग्धता, नहीं है। पुरुष को जिस कोमल मधुर स्पर्श की आकांक्षा होती है, वह मुझे शैला से कभी मिला ही नहीं, चारों ओर से प्रमाद का विकृत रूप ही मैंने देखा, फिर भी मनुष्य का स्वभाव

है कि क्षुधा की वास्तविक निवृत्ति न पा कर वह कृत्रिमता का ही सहारा लेता है और वही सहारा मैं शैला का लेकर रास्ता काट रहा हूँ, बीच में एक गहरी साँस लेकर वह फिर बोला—लेकिन मनहर ! मैं लीला को नहीं भूल पाया, अभ्यास करके भी। जानते हो आज दिल्ली से—"कर गये थोड़े दिन की प्रीति", जो गा रही थी, वही मेरी लीला जोशी है मनहर ! आज अपने हृदय की वेदना की भीषणता को वह इस प्रकार गा-गाकर व्यक्त कर रही है—जैसे जीवन का मात्र यही लक्ष्य उसका रह गया है। आह ! आज जीवन की अस्थिर लहरों में वह चित्र स्पष्ट हो गया है, आज अपने चारों ओर के अँधेरे में भी मैंने अपनी आँखों में, हृदय में, लीला की वह आवाज़, उसका वह रूप, कितना स्पष्ट, उसके प्रेमालोक में उद्‌भासित देखा है मनहर, मैं नहीं समझता था कि उसका विराग इतनी दूर से प्रतिध्वनित हो उठेगा। उसकी गम्भीर व्यथा आँसू बन कर कोसों दूर से बहती निकलती जान पड़ रही है। पाँच वर्ष से उसका कोई पत्र भी नहीं मिला था मनहर, शायद उसने अभी तक विवाह नहीं किया—ओह ! मैंने उसे सचमुच कैसा धोखा दिया—वह मेरे साथ धर्म को, नीति को, मर्यादा को, समाज को तोड़ कर रहना चाहती थी—किन्तु मैंने पुरुष होकर कायरता दिखायी। और आज शैला को अपने अभाव मय जीवन से आबद्ध कर अपनी भूल पर शत-शत वृश्चिक दंशन की पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ। उसका हृदय व्याकुल हो उठा, कुछ देर रुक कर फिर वह बोला—मनहर, उस दिन स्टेशन पर की वह उसकी तस्वीर नहीं भूलती मुझे। आज तो और भी वह फूट उठी है—हम लोग दिल्ली से लखनऊ वापस आ रहे थे—वह हमें बिदा देने अपनी कार पर हमारे साथ ही आयी थी आज उसकी वह विषाद-मूर्ति मेरी आँखों में विराट होकर फिर रही है। उसकी आँखों में करुणा का वह रत्नाकर जो खेल रहा था आज मेरे सिवा कौन उसे जान

सकता है । उन नयनों की वह करुणा-धारा मुझे किस अज्ञात लोक की ओर ले जाने के लिए प्रवाहित हुई थी ? कितना करुण दृश्य था मनहर, जैसे निखिल विश्व की कोमल अनुभूतियाँ मेरे कम्पार्टमेन्ट को घेर कर खड़ी हों । वह मेरी ओर अपलक निहार रही थी मैं उसकी ओर, किन्तु दो आँखें आँसू के सागर के इस पार थीं दो उस पार । दुनिया इस मधुर कसकमयी अनुभूति की, वेदना की, भावना की, चिन्ता क्यों करे ? वह निर्निमेष निहारती ही रही—ट्रेन चल दी । वह छूट गयी—उसकी सारी साधना, सारी उमंग, सारी शीतलता भी छूट गयी और परिवर्तन में दे गयी वह एक अक्षय जलन, अमर वेदना, अमिट अभिशाप ! लेकिन उफ़ ! पुरुष होते हुए भी अपनी कमज़ोरी को मैं दूर न कर सका – समाज के इस खोखले आदर्श की अवहेलना न कर आज भयंकर ज्वाला से खेल रहा हूँ—आह !.........

अभी और न जाने कब तक वह बकता रहता – पागलों की तरह—कि बीच में ही मनहर ने उसे टोक कर कहा—रंजन छोड़ो इस विराग को – संसार यदि विषादपूर्ण है तो उसमें उल्लास की सामग्रियों की भी कमी नहीं है । जहाँ उसमें अँधेरा है, वहाँ उसके द्विगुणित प्रकाश भी है । फिर तुम क्यों इतना विकल हो उठे हो ? यदि तुम्हारा हृदय टूट गया है तो उसे वीरता से यथासम्भव पुनः जोड़ने की चेष्टा करो । अपने दिल के अरमानों को यों न तहस-नहस करो, इस तरह वेदना की धधकती हुई लपटों में गिरकर जलकर खाक होने से क्या ? असाध्य रोगी की तरह जिसकी विचारशक्ति नष्ट होगयी हो उसे अपने औषधोपचार की व्यवस्था अपने हितैषी मित्रों के ऊपर छोड़ देनी पड़ती है । अपनी इच्छा न होते हुए भी जीवन रक्षा के निमित्त कड़ुवी से कड़ुवी दवा खानी पड़ती है । मैं तुम्हें अपना मानता हूँ रंजन, मेरे लिए यह उदासीनता, यह निराश यह सन्तप्त भाव तुम्हें त्यागना ही होगा । यह समझ लो, जीवन

में जहाँ प्रतिदिन यथार्थता का प्रलय नृत्य होता है, कविता की सरसता और कोमल कल्पनाओं के सुखद स्वप्न हमारे लिये उपयोगी नहीं हो सकते। यह हमारी भूल है, भ्रम है। अहर्निश किसी भयंकर ज्वाला में धू धू कर जलने का हृदय में अपरिसीम वेदना का भार लेकर रोने का मूल्य यह कठोर भावहीन संसार हँसने से चुकाता है। यही इस रहस्यमय जीवन की विचित्रता है। करुण रोदन को छोड़कर निस्सार, किन्तु मनोहर जीवन का खेल खेलना ही होगा।

घर तक पहुँचते-पहुँचते बातों का क्रम धीमा हो गया।

× × ×

दिन पर दिन लुढ़कते ही जाते हैं, वही कार्यों में व्यस्त रहने का क्रम चला जाता है। घर और बाहर—वह अपने को जीवनयुद्ध के सैनिक की तरह घसीटता हुआ अपने भीतर के भग्न अंश को किसी तरह जल्दी जल्दी काटता जा रहा है। अपनी गृहस्थी के बीच—शैला के प्रति कर्त्तव्य-रक्षा का उसे ख़्याल है और दोस्तों से भी वह मिलता जुलता है ही, सभा सोसाइटी में भी सम्मिलित होता ही है पर सबके ऊपर एक भारी उथल पुथल लिये वह लीला की आवाज़ ......कर गये...... थोड़े दिन की प्रीति ......उसकी वह गीत की लड़ी भूलती जाती है... कर गये......थोड़े दिन......की प्रीति ...श्वासों के प्रत्येक कम्पन में यह करुणा भरी रागिनी प्रतिध्वनित हो रोती फिरती है और ऊपर से कामों में उलझे हुए भी रंजन चुपचाप अपनी कुरते की बाहों को आँखों के किनारे से लगा लेता है। उसकी तबियत होती है वह ख़ूब ज़ोर ज़ोर से चिल्ला कर गा लेवे—पागलों की तरह—अपनी सारी जमी हुई व्यथा को निकाल फेंके। पीड़ा से उबलते हुए हृदय से वह चाहता है कि विश्व में एक साथ ही व्यथा का समुद्र लहरा उठे, उसमें भयंकर ज्वार भाटे आ जायँ और वेदना की लपलपाती हुई शिखाओं के

चंगुल में जकड़ा हुआ वह अट्टहास कर कूद पड़े उसमें; हृदय के इन दहकते हुये अंगारों को शान्ति की ठंडी राह मिल जाये। यंत्र की भाँति जीना भी कोई जीना है। जिसके सहयोग से जीवन के प्रकाश की एक किरण भी मिलने की आशा नहीं, स्वप्निल आकांक्षा और स्नेह की अनुभूतियों के बीच जीवन को समा देने का भी तो बल न मिला! मानवता की एक तुच्छ माँग को भी प्रेम की परवरिश न मिली, तो आज वेदना के पीयूष से वंचित उसकी आशायें, जिन्होंने सुख का गरल कभी पाया नहीं, अपने को खाने चुकाने लगीं। कठोर संसार की वास्तविकता के बीच उसे रीते हृदय से सुहाग की हँसी बिखेरते चलना ही था। जीवन को तपश्चर्या में व्यतीत करने के गम्भीर विषाद की घनीभूत छाया में पड़े रहना ही था। कभी-कभी वह अपने मित्रों से बहस करते हुए आवेश में कह जाता— तुम कैसे कहते हो कि हमारा सामाजिक गार्हस्थिक जीवन सुखमय है, उन्नत है? भ्रामक आदर्शों और व्यक्ति की हत्या करने वाले सिद्धान्तों को लेकर यह अन्धा समाज हमारा सर्वनाश कर रहा है। मानवता को आँचल से लपेटे चलने से पत्थर की तरह ठोकरें मिलती हैं, हृदय के आँसू पर अट्टहास यहाँ मिलता है, अरमानों की दुनिया को उजाड़ कर यह चाहता है हृदयहीनता का नंगा नाच नाचो, अपने अन्तस की पुकार से विवश होकर हृदय को हृदय समझने से, प्यार से सहारा चाहने वाले को उठा लेने से आँसू देखकर रो देने से, सौन्दर्य की पूजा करने, दुखी से समवेदना दिखाने से, सहृदयता की पावन ज्योति बखेरते चलने से मनुष्यता के नाम पर इस समाज की परिभाषा में तुम पापी कहलाओगे पतित! यही है इसका न्याय, नीति और मर्यादा! इसी के परदे में छिपे हुए यदि हम दिखायें कि हम सभ्य हैं; मर्यादित हैं, जहाँ हैं, जैसे हैं सुखी हैं शान्त और सन्तुष्ट हैं, तो इससे बढ़कर जीवन का मनुष्य का, कठोर उपहास और क्या है?

और फिर वह ऊपर से शान्त किन्तु भीतर से फूट पड़ने की सी दशा में रहता हुआ, जहाँ होता जैसे होता, चलते-चलते कह उठता—यही क्या जीवन है ? असफलता के भयानक संघर्षों को ही जीवन कहते हैं ? मनुष्य अपने को भुलावा देकर ही क्या संसार में रह सकता है ? अपने को चारों ओर की अतृप्ति, अभाव के कँटीले झाड़ झंखाड़ों में ही व्यस्त रखने का नाम जीवन है ।

उजले प्रभात से लेकर नारंगी रंग की संध्या का भी अन्त हो जाता किन्तु रंजन के इस मानसिक विप्लव का किसी जगह अन्त न हो पाता, किसी प्रकार भी नहीं । निश्चिन्त भावुकता की बला से परे दुनिया में हलके हलके ऊपर ऊपर रहनेवाली शैला का रंजन के जीवन में किसी भाँति प्रवेश नहीं हो सका था । उसकी प्रवृत्तियाँ रंजन से भिन्न, चेष्टायें भिन्न, जीवन की धारा भी भिन्न थी । उसके अभाव और अशान्ति के भीतर वह जा ही नहीं सकती थी—तो जीवन की बाज़ी में हारा थका सा, लुटा ठगा सा रंजन गृहस्थी के दायरे के भीतर अपने को डालकर उसके बन्धनों को अपने को सौंपकर बैठ गया था । छिपे-छिपे मन में विद्रोह उठता कि इस सारी व्यवस्था को, नियम निषेध और बन्धनों को काटकर फेंक दे । इन उलझनों के जाल से अपने को मुक्त कर ले किन्तु विद्रोह के कठोर सत्य के नग्नरूप को देखने की उसमें शक्ति न थी । जीवन की अतृप्त लालसा हृदय के किसी कोने में मुँह छिपाये निश्चेष्ट बैठ गयी थी उसे सजीव करना उसे व्यर्थ की विडम्बना जान पड़ती । जीवन की परिपूर्ण असफलता ने जैसे उसके कोने-कोने को भरकर उद्वेलित कर दिया था । उसकी प्रगति को जैसे किसी ने धक्का देकर रोक दिया था, और निराशा की आँधी सर्राटे के साथ उसे कुचलती रौंदती चली गयी थी ।

धीरे-धीरे एक वर्ष और बीता और अपने को खाते-चुकाते एक

दर्द उसने जो पाल लिया था सीने में—उसने उसे रोगशय्या पर गिरा दिया।

× × ×

शैला कमरे में पहुँची तो देखा मेज़ पर दोनों बाहें फैलाये हथेलियों पर सिर रक्खे रंजन निर्जीव-सा बैठा रो रहा था। सामने एक लाल छपा हुआ नोटिस खुला पड़ा था। लपककर शैला ने पहले पेपर को उठाकर पढ़ा—विराट् संगीत-सम्मेलन—आगामी पाँच जनवरी रात्रि के आठ बजे स्थानीय मैरिस कालेज हाल में प्रोफ़ेसर......की अध्यक्षता में होगा। जिसमें सुप्रसिद्ध सिनेमा-स्टार रेडियो सिंगर तथा वादक सम्मिलित होंगे। श्री 'कपूर' बाम्बे, श्री 'मस्ताना' बनारस, मास्टर 'देसाई' लाहौर, मिस बनर्जी कलकत्ता, मिस ताराबाई बनारस, मिस लीला जोशी दिल्ली, मिस गुलाब लखनऊ आदि अपने मधुर गायन तथा वादन से आपको मुग्ध करेंगी। शैला ने पढ़ा और उसे जहाँ का तहाँ पटक रंजन के कन्धों को झकझोर बोली—यह हो क्या रहा है? हज़ार मना किया बाज़ नहीं आते। जब देखो, जहाँ अकेले हुए बैठकर रोना। डाक्टर ने मना किया फिर यह रोना और ज़हर बोना। मैं कहती हूँ......रंजन का सिर उठाकर उसका आँसुओं से धुला मुँह देख कोमल स्वर से बोली—"उठो"—फिर घड़ी की ओर देख—"देखो चार बज रहे हैं दवा की डोज़ पी लो।" और फिर हाथ का सहारा देकर दवा पिलाकर चारपाई पर लिटा दिया। स्वयं पास ही बैठती हुई बोली—"इस तरह बैठने को मना किया है न डाक्टर ने? तुम क्यों नहीं मानते?"

यह सब हो रहा है मशीन की तरह—और रंजन बुत सा चुपचाप लेटा हुआ है, मानों जिस उभार को लेकर वह जागा था रोने के साथ ही उसी मूर्छितता में लीन होने के लिये वह बह गया।

में रखकर अपने कुरते से उसके सिर का खून पोंछने लगा। आँखों से टपटप झरती हुई बूँदों को उसके घाव पर टपकने से वह रोक न सका।

सहसा बाहर से मैनेजर की आवाज़ आयी—"साहब, ट्रेन का वक़्त बिलकुल क़रीब है। शोफ़र जल्दी करने को कह रहा है।"

पानी छिड़ककर उसकी मूर्च्छा दूर करने में लगे हुए रंजन ने हड़बड़ा कर पुकारा—लीला!

लीला ने, एक ऊर्ध्व साँस छोड़कर आँखें खोल दीं और उठकर खड़ी हो गयी। रंजन की आकृति देखकर उसकी भीतर की असह्य वेदना छटपटा उठी। निःश्वास रोककर और उच्छ्वसित आँसुओं को संवरण करते हुए वह बोली—"रंजन, तुम बीमार हो गये हो! मैंने प्रण किया था, तुम जहाँ कहीं मिलोगे, तुम्हारी हत्या कर दूँगी। लेकिन तुम्हारी यह शक्ल देखकर मैं ऐसा नहीं कर सकी। रंजन...... धोखेबाज़! जाओ, अब जाओ!" और बात के अन्त में फिर झर-झरकर आँसू गालों पर बह चले। उसने मुँह फेर लिया।

रंजन उसी तरह सीधा खड़ा रहा, बिजली के मारे हुए ताड़-वृक्ष की तरह।

इतने में बाहर से फिर आवाज़ आयी—"दस मिनट बाक़ी हैं, जल्दी कीजिये।"

लीला झट उठ पड़ी। छोटा सा हैंडबैग हाथ में उठा, क्षण भर रंजन की ओर तीव्र दृष्टि से देख, बिजली की तरह कमरे से बाहर हो गयी।

कार स्टार्ट होने की भर्राहट हो ही रही थी कि रंजन विक्षिप्त सा दौड़ा, खिड़की में सिर डालते हुए, विकृत स्वर में बोलाः—Lila Excuse me for my weaknesses, but don't spoil your life; do marry for my sake.

लीला ने ड्राइवर से ज़ोर से कहा—"चलो !"

कार चल पड़ी। लांछना से बिंधा हुआ रंजन धक्का खाकर नीचे गिर पड़ा। मोटर हवा में धूल उड़ाती पूरी रफ़्तार से चली जा रही थी, और लीला सीट पर निश्चेष्ट लुढ़क पड़ी थी। हृदय को तीक्ष्ण छुरी की तरह यह शब्द काट रहे थे—"क्षमा करना, जीवन को नष्ट न कर विवाह कर लेना......" हूँ...क्षमा, क्षमा, जैसे उसका भी कोई नाटक हो ? और जीवन नष्ट......आह ! क्या वह नहीं जानता जो यथार्थ प्रेम करता है वह नष्ट होता ही है। उसमें उसे कितनी तृप्ति और सुख प्राप्त होता है। किसी को अपनाकर प्रेम करने के प्रयत्न में कितनी विडम्बना है, जीवन धूल हुए बिना नहीं रह सकता। लेकिन जिसके पास प्रेम है वह तो करेगा ही और विवाह ! विवाह करना ही जैसे स्त्रियों के लिए एक काम है !! दुनिया में और कुछ करने को जैसे है ही नहीं, केवल एक विवाह।

उसने अपना सिर ज़रा उठाया। बाहर की ओर दृष्टि डाली। उसकी आकांक्षाओं की तरह हवा में धूल उड़ रही थी। उसने आँखें बन्द कर लीं और फिर लुढ़क पड़ी। सिर में जो चोट आ गयी थी उसमें लग जाने से फिर रक्त आ गया।

विवर्ण मुँह रंजन घर पहुँचा तो उसे ज़ोर का ज्वर चढ़ा था ! एक भयानक मर्मान्तक वेदना हड्डी हड्डी में तीर की तरह घुस पड़ी थी। शैला असहनीय क्रोध और दुःख से बड़बड़ा रही थी—"नहीं माने, कहा था कि न जाओ !"

शाम को डॉक्टर को साथ लिवाकर मनहर आया। उसे देखते ही रंजन रो पड़ा—"मनहर, डॉक्टर को व्यर्थ परेशान मत करो, मैं बीमारी जल्दी ही ख़त्म कर दूँगा।"

मनहर सिरहाने बैठकर आँसू पोंछ सिर पर हाथ फेरने लगा।

डॉक्टर ने परीक्षा की और मनहर को बाहर ले जाकर कहा—"केस सीरियस है। किसी भी वक़्त हार्ट फ़ेल हो सकता है!

शैला आँसू पोंछती हुई पैरों के पास बैठी थी। मनहर दवा ढाल, आँसू पोंछ, झटपट सँभल कर पिलाने लगा। एक टक रंजन विवर्ण मुख से चुपचाप देख रहा था। उसकी इस सकरुण दृष्टि की नीरव भाषा को समझने के लिए हतबुद्धि मनहर काफ़ी था किन्तु वह इस डर से कुछ कह नहीं पाता था कि उसका दर्द कहीं हिल डुलकर ताज़ा न हो जाय। फूलदान का पानी दे देकर जिलाया हुआ बासी फूल कहीं हाथ लगते ही न झर पड़े।

सहसा सिरहाने बैठे मनहर की हथेलियों पर अपना गाल रखकर रंजन अपने विदीर्ण वक्षस्थल की सम्पूर्ण ज्वाला उसकी गम्भीर शान्त गोद में चुपचाप उँडेलने लगा। कुछ रोकर, कुछ कहकर—"मनहर, आज हृदय की धड़कन हृदय को तोड़कर ही बन्द होगी। आशा और आकांक्षा का भयंकर आनन्द मैं झेल चुका हूँ। आज यह भूल करने की व्यथा वहन न हो सकेगी। कलेजे का घाव फट गया है उसमें से रक्त की गंगा बह रही है...... । लीला अन्तिम बार जीवन में मिली थी मनहर, मेरे हृदय की टूटी हुई इमारत के भग्न अंश को भी वह विद्रोहिनी बन लात मारकर बिखरा गयी। अब वह जुड़ नहीं सकता। उससे मिलकर एक सुदूर अन्तराल के भीतर ढकेल दिया गया हूँ। अब मुझे मरने दो मनहर, लीला ने यही आदेश किया है। मनहर, शैला को तुम देखना..." कहते कहते उसका स्वर टूटने लगा, हृदय की धड़कन बढ़ने लगी और वह हाँफने लगा। मनहर उसे बोलने को मना कर उपचार में लगा हुआ था। किन्तु उसके श्वास का उखड़ना बन्द होता नहीं दीखता था। मानो अन्दर से प्रत्येक श्वास एकदम से बाहर निकल आना चाहती थी, जैसे अन्तिम श्वास निकल-

कर ही उसे विश्राम देगी। उसके शरीर में जितनी शक्ति संचित थी, लगता था वह सब अब आज उखड़कर समाप्त हो जायेगी।

घण्टों उसकी श्वास का वेग नहीं थमा और फिर वह रुद्ध होने लगी। आँखों से आँसू की बूँदें बराबर कातर भाव से बह रही थीं। शैला की ओर उसने अपनी पथराती हुई आँखों से देखकर कुछ कहना चाहा पर होंठ सिर्फ़ हिले—कोई शब्द न निकला, गला रुँध गया था। केवल बड़े बड़े आँसू ढुलक पड़े और उसने सदैव के लिये आँखें बन्द कर लीं।

वह भूल ?

"क्या सोच रही हो लता ?"

"..................."

"न बोलोगी ?"

"क्या बताऊँ मधु, यह मैं स्वयं भी नहीं जानती कि क्या सोचा करती हूँ। लेकिन इतना जानती हूँ कि यह सोचना ही मेरे लिये जीवन है। मैं सोचने से कभी खाली रहती हूँ, इसमें सन्देह है।"

"आखिर क्यों हृदय में यह अशान्ति के बवण्डर उठा करते हैं ?" मुस्कराते हुए मधु ने पूछा।

लेकिन लता की आँखें भर आयीं। उसने अपनी दृष्टि नीची कर ली। मधु फिर बोल उठी—"तुम्हारी आँखें क्यों भर आयीं लता ? क्या मेरी किसी बात से तुम्हें ठेस पहुँची है ?"

लता नीरव निस्पन्द रही।

मधु उसके कन्धों को स्नेहपूर्वक अपनी बाहों में लपेटती हुई बोली—"सच बता बहन, तुझे क्या हुआ ? तेरी आँखों में आँसू क्यों आ गये ?"

मुँह ऊपर उठाकर उसकी आँखों में आँखें डालते हुए लता ने कहा—"आँखों में कुछ नीर न हो, प्राणों में कुछ पीर न हो तो वह जीवन भी कोई जीवन है ?" और वह सूखी मुस्कान अपने होंठों पर लाने की चेष्टा करने लगी।

"तुम तो कविता करती हो ! तुम्हारा पागलपन अच्छा नहीं।"

"हाँ...मधु, इस पागलपन ने ही आज मुझे दीन दुनिया कहीं का न रक्खा।"

आश्चर्य से चौंकती हुई मधुरा आँखें विस्फारित कर बोली:— "मेरी लता, तुझे क्या हुआ है, सच सच बता मुझसे क्यों छिपाती है ?"

"तुझसे छिपाने की तो कोई बात नहीं है मधुरा ! क्या तुम मेरे जीवन के नये अध्याय से परिचित नहीं हो ?"

"सो तो हूँ ही, लेकिन उसके लिये ऐसी भारी भूमिका की क्या आवश्यकता है ?"

"तू नहीं जानती, किन ग़लतफ़हमियों और लांछनाओं के बीच होकर मेरा जीवन गुज़र रहा है।"

"ऊँह, क्या तिल का ताड़ बना रक्खा है।"

"हाँ, तुम इसे इस मानी में ले सकती हो, लेकिन दूसरों के पापों की खोज करनेवाली अन्धी दुनिया तो किसी को आसानी से नहीं छोड़ सकती।"

"मैं तो आज तक समझ ही न सकी कि इन सब ग़लतफ़हमियों में कोई तथ्य भी है ?"

"तुम्हें इन बातों में कोई तथ्य ही नहीं जान पड़ता ?"

"किन बातों में ?"

"इसी विषय में कि एक पुरुष प्रेमी, पति, भाई या बाप के सिवा मित्र बन ही नहीं सकता ?"

"शायद हमारा भारतीय वातावरण इसके उपयुक्त नहीं।"

"हाँ मधुरा, यही तो मैं भी कहती हूँ। हमारा समाज स्त्री पुरुष के सम्पर्क पर केवल पतितावस्था की ही छाप लगाना जानता है। स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को निष्काम रूप से, मित्रभाव से, देखना उसे असह्य है। साधारण श्रेणी की स्त्रियाँ पुरुषों को केवल मित्रता के सूत्र में बाँधकर नहीं रख सकतीं। यह निन्दनीय है, नीचतापूर्ण है, दूषित है। प्रत्युत देखती हो कि विवाह के बाद सिवा पति के किसी अन्य पुरुष को देखना भी पाप है। सदियों से ऐसी कलुषित मनोवृत्ति रही है कि ज़रा ज़रा सी बातों और बिलकुल निर्दोष व्यवहारों में भी दोष की ही गन्ध लोगों को आती है। विशेष कर स्त्रियों के व्यक्तित्व को, उनके मानसिक विकास को हमारे समाज ने बिलकुल कुचल डाला है ?"

"और यह सब केवल उनके लिये जो अपनी जीविका के विषय में पराधीन हैं। आज हममें से जो ऊँचे ऊँचे पदों पर आसीन हैं, जीविका के विषय में स्वतन्त्र हैं, उन्हें समाज के निषेध में बाँधकर रखने की शक्ति किसी में नहीं है। ख़ैर, तुम्हारा तो प्रश्न स्त्री पुरुष के पारस्परिक प्रेम के सम्बन्ध में था।"

"हाँ, प्रेम, स्नेह, मैत्री कुछ भी कहो, जब यह स्वाभाविक है तो समाज प्रेम के नाम से ही क्यों निगल लेने को तैयार हो जाता है ? अनुभूतियों और भावनाओं की समानता ही क्या प्रेम नहीं है ? प्रेम, प्रेम है ही क्या ? हृदय की एक अवस्था ही तो ? शारीरिक अवस्था

में परिवर्तन होता है, तो हृदय की भावनाओं में परिवर्तन होना ही क्यों अस्वाभाविक है ?"

"स्त्री पुरुष के प्रेम को आग की लपट कहते हैं, उनका सीमित रहना ही अच्छा है।"

"कैसा छोटा विचार है मधुरा, कैसी संकीर्ण दलील है। पति के रहते हुए किसी पुरुष को मित्रभाव से एक स्त्री अपनाती है, पत्राचार करती है, तो चाहे वह कितनी ही पवित्र क्यों न हो, उसकी ओर समाजशास्त्रियों की अणुमात्र भी दया नहीं, सहानुभूति नहीं।"

"कहना क्या चाहती हो लता, आप बीती सुनाओगी या यूँ ही समाज का रोना रोती रहोगी।"— कहते हुए मधुरा हँस पड़ी।

"मैं भी समाज की इसी कलुषित मनोवृत्ति का शिकार हो गयी हूँ मधुरा! अपराध मेरा इतना ही है कि मैंने इच्छा को जीतना न सीखा था। भावना में बहते हुए अपने पर बाँध लगाकर रोक रखना न सीखा था। किसी को स्नेह की दृष्टि से देखते हुए मित्रता का हाथ बढ़ा देने से हृदय की सहानुभूति और आत्मीयता दे बैठने के भीषण अपराध में आज संसार मुझे निगल जाने को मुँह फाड़े बैठा है। उसने जब अपने हृदय की अनुभूतियों को प्रेम की भाषा में व्यक्त किया, प्राणों के गीत सुनाये, प्रणय की याचना की, तो इस सत्य को तो शब्दा-डम्बर से ढककर रख नहीं सकती—मनुष्य हृदय की निर्बलता कहो, या भावुकता, प्रोत्साहन पाकर मैंने भी अपने हृदय को शब्दों में नाप कर उसके सामने रख ही दिया। मेरी कोमल वृत्ति ने मुझे कठोर न बनने दिया और मैं कामना से नहीं तो शब्दों से तो अपने हृदय की भावना को उसके सामने ढालने ही लगी। मैंने क्षण भर को न सोचा कि एक पुरुष और स्त्री की मित्रता का सम्बन्ध केवल आत्मा से ही नहीं, समाज से भी जुड़ा हुआ है और उसके पाप और धर्म को भी

लेकर चलना पड़ता है। मुझे अपने पवित्र स्नेह को समाज की कलुषित छाया की मलिनता से भी बचाये रखना था। लेकिन एक क्षण को भी यह सब कुछ न सोच सकने की भारी भूल जो मैंने की है मधुरा, वह मेरे जीवन के क्षीण प्रकाश में युग युग तक एक अँधेरे स्तूप की भाँति अचल अटल खड़ी रहेगी। मेरे अन्तर का सत्य, मेरी स्थिति की वास्तविकता दुनिया नहीं जान सकती। उसे तो अपने अनुमान के लिये प्रमाण की प्रामाणिकता भी नहीं चाहिये। कैसी अशुभ घड़ी में उससे भेंट हुई थी! कैसी मनहूस घड़ी में मित्रता के नाते उससे पत्राचार हुआ था! उसमें कैसा ज़हर छिपा था, यह मैंने न जाना! मधुरा, उसने मुझे स्नेह की दुनिया में अपने शब्दों द्वारा बुलाया और दुनिया आज मुझे गालियाँ देने, बुरा भला कहने, तुच्छ संज्ञाओं से विभूषित करने को तुली बैठी है। मैं किसी से तर्क नहीं करना चाहती न किसी को प्रभावित ही। मेरे अन्दर गति है, लेकिन सामने प्रकाश नहीं जो मैं तर्क के पथ पर चल सकूँ। मैं तो इस विपत्ति में अपनी दुर्बलता, अपनी ही भूल मानने को तैयार हूँ। लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार ग़लतफ़हमियों में पड़कर मेरी असाधारण पवित्रता को भले ही नष्ट करें। मैं तो स्वयं अब अपनी भारी भूल पर पश्चात्ताप की आग से जल रही हूँ, जन्म जन्मान्तर तक जलूँगी। हमारा समाज इतना उदार नहीं है कि वह स्त्रियों को इतनी स्वतंत्रता दे सके। वह तो सिर्फ़ कीचड़ उछालना जानता है, अपमान, अपयश के शिखर पर बैठा देना चाहता है। मैंने जीवन में यह भारी भूल करके जो ठेस खायी है, जो अपवाद सहा है, जो अपमान लिया है, कभी भूलने की नहीं। दिन रात भूलने की चेष्टा करती हूँ, पर मन की ज्वाला साँस के साथ भड़कने लगती है। कितनी अशान्ति है। हृदय को मरोर दिया है, चाहों का गला घोट दिया है, तब भी इस भारी भूल की स्मृति मेरी उजड़ी हुई शान्ति में आग लगाने

आती ही है—आती ही है ! एक पुरुष के सम्पर्क में आकर, उससे पत्राचार करके, नहीं जानती थी कि धोखे धोखे में ज़हर पीना है, जो मरने के दिन क़रीब लाता है। नहीं जानती थी कि यह आग है जो युग युग धू धू कर जलाती है। और स्त्री की यह भूल इतनी भयंकर न हो उठे जो वह पुरुष भी उसे दुनिया के सामने 'असती' न ठहरावे, अपराधों की सृष्टि करके अपमानित और लांछित न करे। लेकिन भूल तो फिर भूल ही है, मानव की ही देवता की नहीं ! और इस भारी भूल का परिणाम यावज्जीवन भुगतने के लिये तैयार रहना चाहिये। किन्तु यह ओछे अपवाद, यह प्रच्छन्न व्यंग एक दुर्बल नारी को असह्य हैं। कलंक नाम से मुक्ति पाने को, छीः-छीः की विभीषिका से निर्वाण पाने को, वह जितनी जल्दी हो सके, दुनिया की निगाहों से दूर हो जाना चाहती है। लेकिन मरने के दिन तक तो यह भारी भूल की व्यथा उसे रुलाती रहेगी। ग्लानि से, वेदना से, पश्चात्ताप से, घृणा से उसका हृदय व्याकुल होकर पछाड़ खा रो उठता है। पुरुष को कोई कुछ नहीं कहता, स्त्री को पीस डालने को सब तैयार हैं। तो यह सब जानते हुए भी जब मैं इस भूल में पड़ ही गयी हूँ तो पछताकर ही क्या करूँ ? सोचती हूँ क्यों ? रोती हूँ लेकिन फिर भी सदियों की पिसी हुई नारी के समाज गत संस्कार उसे उत्पीड़ित कर रुला ही देते हैं। इतना कहते उसका गला रुँध गया, स्वर आँसुओं में उलझ गये। और वह मधुरा की गोद में गिर पड़ी—निश्चेष्ट सी।

मधुरा निर्वाक, निस्पन्द सी, चेतना शून्य होकर बैठी रही। उसके पास समवेदना तक के लिये शब्द न थे।

व्यवधान

बहुत दिन बीत गये, धुँधली सी याद है, जब मैं उससे मिली थी। स्थिर चाँदनी रात सोती हुई पृथ्वी के सिरहाने बैठी जग रही थी। ग्रीष्म क्लिष्ट भवन में टकराती हुई हल्की-हल्की वायु आ रही थी। जब मैं उससे मिली थी तारिकाएँ गुपचुप हँस रही थीं, और वह भी मेरे पास मुझसे सटकर ही निःशब्द आ बैठी थी! उसका नाम था मल्लिका। मुझे उसका नाम बड़ा प्रिय लगा, उसकी देह छटा ही कुछ हृदयग्राही जान पड़ी। मेरे अन्तःप्रदेश में जैसे गूँज गया, उसकी सुरीली वाणी द्वारा बताया हुआ नाम—मल्लिका! और तभी मैं उसे प्रेम दीपक के प्रखर प्रकाश में निहार बैठी। उसका प्रेम जीवन के तार तार में व्याप्त हो गया। उसका संगीत हृदय तन्त्री में झंकार कर उठा।

वह मुझे लाडो कहती थी। मैं उसे प्यार से मालो कहा करती थी। इस जन्म के प्रथम परिचयसे ही मेरा उसका अपनापा बढ़ा। कैसे सुन्दर

थे वह दिन ! हम दोनों साथ बैठतीं, साथ लेटतीं, साथ खातीं, साथ ही नहातीं। घंटों पानी में भीगते हमारी अटखेलियाँ होतीं, घंटों हमारी बातों का तार न टूटता। कैसी मौज थी, कैसा उछाह था ! एक दूसरे की आँखें मिलते ही हृदय हँस पड़ते और मानों ख़ुशी का ख़ज़ाना मिल जाता था। कितनी एकान्त रातों की चाँदनी की चमक में, प्रभात के आलोक में, संध्या की स्वर्ण प्रभा में और बसन्त की शोभा में, बरसात की रंगीनी में, शरद् की छवि में हम दोनों ने प्रेम की डोरी में कसकर अपने कोमल हृदयों को बाँधा था। कितनी बार अँधेरे कमरे में एक साथ सोयीं, कितनी रातें जागकर बितायीं, कितनी ऊषा की गुलाबी हवा में कविताएँ गायीं और कितनी ही सूनी दुपहरी में बिरह मिलन की कहानियाँ पढ़ी थीं !

वियोग के दिनों के उसके भेजे हुए गुलाबी लिफ़ाफ़े, जिनके अन्दर कागज़ पर वह अपने हृदय को निकालकर भेजती थी, आज भी मेरे ड्राज़ में मूकभाव से लेटे हैं। कैसे सुन्दर थे वे सरल प्रेम के पत्र—जिनमें एक दूसरे को कभी न भूल सकने की भारी भूल भरी हुई थी, जिनको पढ़कर स्वयं अपने को मैं भूल जाती थी।

आज स्वयं वह मुझे भूल गयी है। उस प्रेम का बन्धन टूट गया है, उस प्यार का विच्छेद हो गया है। फूल जैसे देखते देखते मुरझा गया। इन्द्रधनुष की रंगीनी जैसे दिखायी पड़ी, विलीन हो गयी। आज कहीं कुछ नहीं। सब कुछ जैसे एक भ्रम था, एक विडम्बना थी ! केवल—देखने भर का प्रेम—जैसे उसके भीतर कुछ था ही नहीं। जैसे भूलना चाहते ही सब कुछ भूला जा सकता है। दिन रात हृदय में बसनेवाला प्रेम भी खो जाता है !

हाँ—उसी मल्लिका से एक दिन भेंट हुई। मैंने पूछा स्नेह भरे स्वरों से—"अच्छी तो हो माली, दुबली क्यों देख पड़ती हो ?"

वह कुछ न बोली—केवल किंचित् मुसकुरा दी। मैंने फिर कहा—

"शायद बहुत दिनों बाद देखा है, इससे फ़र्क मालूम पड़ता है।" मैं हँस पड़ी।

अब की वह बोली—इस तरह, मानों कहने को बहुत कुछ अन्दर छिपाये है, "हाँ, तुम्हारी दृष्टि में फ़र्क अवश्य हो गया है। मेरे में तो कुछ भी नहीं।" उसके कथन में व्यंग था। मैं—उस व्यंग के अन्दर कुछ सत्य भी है या नहीं—इसकी चिन्ता न कर चुप रह गयी। किन्तु मेरा जी जैसे भारी हो गया। इतने दिनों बाद मिलने की ख़ुशी जैसे बुझ गयी।

इतने में आ गयी मल्लिका की बड़ी बहन सरला। मुझे देखकर, मेरे हाथ को अपने हाथ में लेते हुए मुसकुराकर बोली—"तुम्हें क्या हो गया है लाडो, इतनी कमज़ोर क्यों हो?"

मैंने उस प्रश्न की व्यर्थता को हटाते हुए धीमे स्वर में कहा—"नहीं दीदी, मैं तो सदा से ऐसी हूँ। मुझे कुछ नहीं हुआ!" मल्लिका ने फिर व्यंग्य छोड़ा—"अरे दीदी, यह देखने को ही ऐसी हैं, अन्दर बड़ा ज़ोर है। और फिर ठहरीं कवयित्री। दुबला पतला होना क्या बुरा है? कविगण इन्हीं की प्रशंसा में कह गये हैं—कनक-छरी-सी कामिनी।"—वह कहते-कहते अट्टहास कर उठी।

मेरे चोट खाये हुए हृदय में कितनी वेदना घनीभूत हो गयी! किन्तु व्यथा को सहलाते हुये उच्छ्वास के साथ अपने स्वर में बनावटी मधुरता लाते हुए मैंने कहा—"काश मनुष्य के अन्दर की सब बातें मनुष्य जान लेता।"

मैंने स्थिति की कठोरता को कोमल बनाकर पी जाना चाहा, पर निशाना जम न सका। सारा कमरा जैसे मेरा उपहास सा करता हुआ प्रतीत हुआ। कल्पना के लोक में विचरण करनेवाला मेरा भावुक हृदय वास्तविक जगत् का खिलौना बन गया। दुनिया की आँखें मुझे देखकर मेरा तिरस्कार करती हैं। कल तक जिस मल्लिका को प्राण का पड़ोसी

जाना था, आज वही मुझ पर तीर चलाती है। कल तक एक दूसरे के जिस हृदय सौंदर्य और माधुर्य को पी जाने की अभिलाषा थी, आज उसी में हलाहल से भी तीव्र कटुता दिखलायी पड़ती है। कल तक जीवन के आकाश में जो रंगीन स्वप्निल इन्द्रधनुषी प्रेम खिला था, आज उसी निर्मल आकाश के हृदय पर काले काले बादल के टुकड़े कलुषित भावनाओं का आकार लेकर खड़े हो गये हैं। कभी इस मल्लिका की हँसी कितनी स्वच्छ और मधुर लगती थी! आज उसी हँसी में घृणा और विद्रूप की आत्मा सी पुकार रही है। कल तक जिसने प्रेम किया, आज घृणा की ज्वाला जलाये बैठी है। कुटिलता और अपमान की जंजीरों से कस-कर बाँध देने की उसकी इच्छा—कैसी अद्भुत पहेली है।

किन्तु अपमान का प्रयोजन इसी एक बात में ही—इसी जगह नहीं समाप्त हुआ। इससे भी बड़ा—बहुत अधिक अपमान मेरे भाग्य में रक्खा हुआ था।

जब उसने कहा—"लाडो, कवि को अपनी स्थिति से कभी सन्तोष क्यों नहीं होता ?"

मैंने कहा—"क्यों ? तुम्हारा मतलब क्या है मालो !"

उसने कहा—"तुम्हारी रचनाओं में असफल प्रेम की व्यथा की ही अभिव्यक्ति क्यों रहती है ? हृदय की कभी न मिटनेवाली प्यास ही क्यों वर्तमान रहती है ? हृदय के रोदनमय गीत ही क्यों मूर्त रहते हैं ?"

मैंने कहा—"विश्व के समस्त काव्य के मूल में इसी चिर वेदना का रहस्य छिपा है मालो, भाव बहुल हृदय ही इसकी अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं।"

उसने फिर व्यंग्य भरे स्वर में कहा—"हाँ, एक तुम्हारा हृदय भाव-बहुल है और एक 'शेखर' का।" (शेखर से उसका अभिप्राय अपने पति से था।)

मैं तिलमिला उठी—"मुझ पर व्यर्थ आक्षेप क्यों करती हो मालो, मैं जो कुछ हूँ सो हूँ ही। शेखर के लिए तुम मुझसे ऐसा क्यों कहती हो?"

"इसलिए, कि तुम्हारी असीम सहानुभूति और अबाध प्रेम उनके प्रति है।"

"मालो, तुम इतनी कठोर हो सकती हो, इस पर मुझे आश्चर्य है। मानव की मानव के प्रति सहानुभूति ही क्या अनौचित्य की सूचक है? किसी में हृदययुक्त व्यक्तित्व का निदर्शन पाकर उसकी ओर आकृष्ट होना ही क्या पाप है? किसी की वेदना या उल्लास के भावों की कुछ पंक्तियाँ किसी व्यथित या पुलकित आत्माओं में प्रवेश कर उन्हें अनुप्राणित कर दें, तो उसे क्यों विडम्बना का रूप दिया जाय मालो?"

मल्लिका कुछ कहने को हुई। तब तक सज धजकर आ गया सुभाष। बोला—"लाडो, चलो, आज सिनेमा चलना है न? कल सुबह ही घर चले जायँगे।"

× × ×

मेरे बहुत कहने पर भी मल्लिका मेरे साथ सिनेमा चलने को तैयार न हुई।

कार पर मैं और सुभाष सिनेमा-हाउस को चल दिये। मोटर हवा में धूल उड़ाती हुई चली जा रही थी। मेरे हृदय में विचारों का झंझा-वात चल रहा था। मस्तिष्क विचारों से बुरी तरह उलझ रहा था।

अतीत का आवरण उठ रहा था। यही मल्लिका, जो मुझे प्रेम करती थी, शेखर के मेरे जीवन में आ जाने से ही आज ऐसी बदल गयी? ऐसी बातों से, मेरे हृदय में और इस शिथिल से सम्बन्ध में यह इस तरह का झटका दे रही है! स्पष्ट करने पर भी शायद वह सुरक्षित न रह सका। ठीक है, जीवन में सभी बातों का अन्त अच्छा थोड़े ही होता है। ऊपर से सब ठीक, परन्तु स्पष्ट बात में भी रहस्य, दुनिया

को छिपा ही मालूम देता है। मनुष्य मनुष्य के ही प्रेमपूर्ण हृदय के जीवन में उसके पाप और दुःखों को लेकर व्यर्थ के उपहास अथवा घृणा से कुरेदता है। प्रेम के कोमल चिह्नों को निर्दयतापूर्वक कुचलता है। मेरे और मल्लिका के बीच आज एक पर्दे का व्यवधान है! वह मुझसे खुल नहीं सकती। वह परदा पर्वत की तरह अडिग है, मृत्यु की तरह चिरस्थायी है और दुःख से भी बढ़कर वेदनाप्रद है। यह भारी परिवर्तन मेरे जीवन से लिपटकर मानों मुझे क्षार कर देगा। रात दिन पास रहते हुए भी कुछ दिनों के अन्तर से मैं मल्लिका से इतनी दूर चली गई कि मानों अब कभी उस तक पहुँच ही न सकूँगी।

तो क्या इसके भीतर यही सत्य नहीं है कि मैंने शेखर को अपने जीवन में प्रेमपूर्वक हँसते हुए पाया, और मैं उसकी प्रेम-स्निग्ध दृष्टि से अपना मुँह फेरकर रह न सकी। उसकी मूक-प्रेम-याचना को कठोरता से ठुकरा न सकी। और आज मल्लिका ही क्यों, सारा संसार मुझे घृणा से देखता है, मेरे हृदय का उपहास करता है, मुझे व्यंग्य से कुरेदता है। मैं अपने छोटे से कोमल हृदय को कैसे समझाऊँ कि संसार क्या है! उसका ज्ञान क्या है! उसकी दृष्टि में प्रेम की दृष्टि का मूल्य क्या है!

भाभी

"भाभी, हवा ठीक लग रही है न ?" फ़ैन को टेबिल पर रख कर उसका कनेक्शन ठीक करते हुए प्रेम भरे स्वर से मुस्कुरा कर पूछा था सुधाकर ने। उसके कण्ठ की प्रतिध्वनि गूँज उठी थी कमरे में और मानों दूर-दूरान्तर से सैकड़ों भाभी-सम्बोधनों ने दौड़-दौड़कर मेरे अन्तर को एक मधुर संगीत से भर दिया था। इस सम्बोधन ने जैसे अन्तर के प्रत्येक कोने को स्पर्श किया, स्नेह से लिपट कर चरणों में लोट गया और आदर तथा उल्लास से प्रदक्षिणा करने लगा था ! एक अनास्वादित अतृप्त आकांक्षा, नवीन कल्पना शरीर की प्रत्येक शिरा को मथने लगी थी, जाने कितनी नवीन अनुभूतियाँ अन्तर में भीड़ लगा कर खड़ी हो गयी थीं, और 'भाभी' का सरस मोहक सम्बोधन वायु की तरंगों के साथ मिलकर गूँज उठा था।

ऐसी ही तो थी वह एक वैशाख की पूर्णिमा ! अपने मदिर सौन्दर्य

से नहाई हुई चन्द्र-रश्मियाँ उछल-उछल कर अठखेलियाँ कर रही थीं। भीनी-भीनी हवा, हलके झकोरों से खिलती हुई, रजनीगन्धा के फूलों का मकरन्द बहाती हुई सारे कक्ष में घूम रही थी। शहनाई के मधुर स्वर दिगदिगन्त में मस्ती से गूँज कर मेरे शुभ विवाह की सूचना दे रहे थे। मैं सुसज्जित कमरे में, बिजली के जगमगाते हुए आलोक में, सुन्दर वस्त्राभरणों और फूलों से लदी मखमली कोच पर बैठी थी। भवन में रमणियाँ अपने नृत्य और वाद्य में निरत थीं। हाँ, तभी तो आया था मेरे पास वह पूर्ण विकसित सुन्दर सुधाकर! 'भाभी' शब्द का स्नेह-सम्बोधन पल भर में मेरे मानस-पट पर अंकित करने। जैसे हृदय में कोयल ने नवीन वसन्त के आगमन की घोषणा पंचम स्वर से कर दी हो, श्यामा ने प्राची के हृदय में मचलती हुई आलोक-किरण का सौन्दर्य गान गा दिया हो। उस पूनो की निशीथ में उसका वह 'भाभी' स्वर अपनी सारी कोमलता, मधुरता हृदय में बिखेरते हुये अमृत हो उठा था और मेरा नन्हाँ-सा अनजान हृदय, पता नहीं, वहाँ कहाँ जाकर खो जाना चाह रहा था—किसी परिचित से, घनिष्ठ से, अनुभूत से, 'देवर' नाम के आकर्षक अस्तित्व में।

नारी-जीवन में 'पति परमेश्वर' के पतित्व की गुरुता में छिपी हुई एक कोमल भावना झाँकती है—खुलकर हँसने-बोलने के लिये एक देवर नाम के व्यक्ति में। कर्तव्य-भार से लदे हुये दैनिक जीवन के गृह-कलहों के सूने-सूने निस्तब्ध पलों में, पति के अतिरिक्त एक और हमउम्र साथी के साथ दो घड़ी रसभरी अठखेलियाँ, मीठी चुहल और स्वाभाविक चुलबुलेपन से भरी छेड़छाड़ से सूने वातावरण को मुखरित कर देने के प्रबल कांक्षा जाग्रत होती है। जीवन की तृप्ति के लिये, सरसता और मनोरंजन के लिये, देवर नाम के सबल प्राणों की चंचलता और मादकता की चाह होती है। केवल पति से ही जीवन की रिक्तता, जीवन

की आवश्यकता नहीं भरी जा सकती। सागर का रंजन केवल एक लहर के सौन्दर्य से नहीं हो सकता! आकाश को एक चाँद के अमृत का आस्वादन क्या सन्तोष दे सकता है?

नये जीवन-पथ पर, नई दुनिया में, नवीन दिशा और नये वातावरण में प्रवेश करते और यौवन की पौ फूटते ही नयी उषा की सुनहरी ज्योति-रेखा के समान जीवन लेकर जग उठने वाला देवर सुधाकर आया था—अपने 'भाभी' सम्बोधन से अन्तर को एक युवक-स्पर्श देने। वह देवर-भाभी का परिचय घनिष्टता का रूप धारण कर बैठा। वधु की अज्ञात लज्जा का भाव अभी दूर भी नहीं हुआ कि सुधाकर के सम्मुख अपने को भूलने लगी। एक नूतन आकर्षक अध्याय प्रारम्भ हो गया। उसके आगमन की ध्वनि कान में पड़ते ही चेहरे पर एक आनन्द तथा तृप्ति की आभा फूटकर उज्ज्वल हो उठती, शिथिल शक्तियाँ लौट आतीं, नवीन भावना को लेकर हृदय लहरा उठता—मानों एक अदृश्य शक्ति मुझ पर बलपूर्वक काम करती। घूँघट-पट के झीने आवरण से झाँकती हुई मेरी दोनों आँखों से एक प्रबल प्रेरणा आगे आकर मुझे पीछे ढकेलने लगती और नेत्रद्वय के सम्मिलन से ही एक स्वच्छ निर्मल हास्य की कान्ति बिखर जाती। यौवन की दीवानगी में देवर की छेड़छाड़ का क्या कहना? हृदय की सरिता में उमंगों की लहरें उठने लगीं, एक-दूसरे के मन में बरबस लाज, झिझक और प्रेम की व्यथा, टीस, उठने लगी। लपटती हुई लालसायें, छलकता हुआ यौवन, मन में कोई जादू-सा और आँखों में सपनों का वितान-सा लेकर एक अदम्य आग्रह से नित्य एक-दूसरे के प्रति बढ़ते चले जा रहे थे। अन्तर में एक उथल-पुथल लिये हुये एक दिन आ पहुँची निर्मल ज्योत्सना-स्नात, मुस्कुराती हुई मधु पूनिम होली की एक रंगीन रात। फागुन के मस्तों की टोली मस्ती के राग से कूक उठी, दिशाओं में मस्ती की

तानें गूँज गयीं। हृदय लोच के साथ थिरक उठे, मादक और मदिर वातावरण में मानों उन्मत्त पिपासा जागरूक हो उठी। उसी मुग्ध, स्वप्निल, शीतल यामिनी में, मोद-विह्वल-पुलक-कम्पित सुधाकर मौज में गाता हुआ—जाने क्या तेरे घूँघट में, मेरे आँगन में आया। मैंने अधीरतापूर्वक अवगुण्ठन उठा कर उसकी ओर निहारा। उसके मुख की अम्लान हँसी और नेत्रों की स्निग्ध दृष्टि को निरख कर मेरे अधरों पर एक हरी हँसी थिरक उठी और वैसे ही लपक कर सुधाकर ने मेरे गालों पर एक मुट्ठी लाल लाल गुलाल पोत दिया—दीवाने की भाँति। और फिर जब वह जल-पान करने बैठा तो मैंने चुपके से पीछे जाकर उसकी पीठ पर "फूल फ़ार सेल" लिखा हुआ काग़ज़ का एक टुकड़ा चिपका दिया और सामने जाकर एक शरारत भरी हँसी हँस दी—ओह, कैसे दीवाने थे वे दिन !

दिन निकलते गये।

प्रीवियस में वह पढ़ता था। वकील साहब को 'भैय्या' कहा करता था। एक रोज़ जब वह आया तो वकील साहब बैठे थे। बोले, "आओ सुधाकर! मैं तुम्हारी ही राह देख रहा था। चलो, कहीं घूमने चलते हो ?"

"कहाँ चलूँ ?" सुधाकर ने हँसकर पूछा।

"चलो, पार्क में। आज खेल क्या है ?"

"शायद देवदास।"

"चलो, चलें।"

"चलिये।"

हम लोग पार्क में बैठे थे। विवाद छिड़ गया। मैं भी उसमें सम्मिलित थी। सुधाकर ने कहा, "स्त्रियों का पुरुषों के बराबर दर्जा है। बिना पुरुषों के संपर्क में आये, घर में बैठे-ही-बैठे, क्या वह कभी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती हैं ?"

मैंने उसकी हाँ-में-हाँ मिलाया।

वकील साहब विपक्ष में थे। उन्हों ने कहा, "यह सम्भव ही असम्भव है।"

सुधाकर बोला, "आज पाश्चात्य देशों की लड़कियाँ कसरत, लड़ाई यान-संचालन, नेतृत्व और जितने भी काम हैं, सभी में पुरुषों की समता कर रही हैं।"

वकील साहब कुछ झेंपते से कहने लगे, "कुछ भी हो, वह हमारी बराबरी नहीं कर सकतीं! उनका स्थान घर है।"

मैंने कहा, "यह भी कोई बहस है?"

सुधाकर, "तो जनाब, प्रकृति ने उन्हें इतना नीचा नहीं बनाया है, जितना आपने उन्हें कर रक्खा है। वैदिक काल में भी स्त्रियों को समत्व प्राप्त था।"

वकील साहब, "तब और बात थी। आज आप देखते हैं कि पाश्चात्य देशों में कितना व्यभिचार फैला है?"

सुधाकर, "तो क्या आप समझते हैं, यहाँ कम है? वहाँ खुले आम, यहाँ छिपे-चोरी। इतना ही अन्तर है। यहाँ का व्यभिचार पाप है, उसे छिपाकर पवित्रता की पालिश चढ़ायी जाती है। वहाँ अनुभव के तौर पर, सदुद्देश्य से, किया जाता है।"

सुधाकर ठीक हो या ग़लती पर, वकील साहब के पास कोई जवाब न था। मैं घड़ी देख बेंच से उठ कर घास पर जा बैठी।

वकील साहब ने कहा, "तुम यहाँ के विवाह-संस्कार के प्रतिकूल होगे?"

"बिलकुल! देखते नहीं, आये दिन कितने अनमेल विवाह होते हैं?"

"तब भी कितने सफल रहते हैं। वहाँ तो दिन में दस दस बार तलाक़ होते हैं।"

भैय्या, वह सब सचाई के लिये ही तो ! यहाँ की तरह अनिच्छा होने पर भी बलात् बँधे रहना तो वे पसन्द नहीं करते। यहाँ तो मैं जानता हूँ सौ में सौ बलात् बँधे होते हैं।"

"अच्छा, तुम्हारा विवाह तुम्हारी इच्छानुकूल नहीं ?"

"सम्भव है, अब न हो। संसार में, मनुष्य में और इसीलिए प्रेम में भी परिवर्तन आवश्यक है। मैं इस बात को मानता हूँ कि प्रेम अमर होता है।" कहते-कहते सुधाकर ने मुझे चुप देख कर मुझे छेड़ा—"क्यों भाभी, तुम्हारी राय क्या है, प्यार के विषय में ?" वह मुस्कुराया।

मैं बोल उठी—"हाँ, प्रेम भी परिवर्तनशील है और दाम्पत्य जीवन में तो कुछ दिनों बाद प्रेम पाखण्ड और निर्जीव हो जाता है।" मैं गम्भीर हो गई।

वकील साहब ने कहा, "अच्छा, छोड़ो इस बहस को। चलो, शरबत पिया जाय। तब तक खेल का भी वक्त हो जायगा।"

सिनेमा-हाल में बैठे हुए सुधाकर ने जब पारू की विवाहित अवस्था का तपस्वी वेश देखा तो रो उठा और मैंने जब देवदास को कलकत्ते जाते देखा तो सिसक उठी। वकील साहब बैठे थे मूकवत् !

इसके बाद की गाथा बड़ी कड़वी है, बड़ी दुःखद है। दिन एक-एक कर कुछ मास बीते। मेरे दाम्पत्य जीवन में कुछ आकर्षण न था। प्रेम वहाँ अधिक दिन नहीं ठहरा। उस समय शान्ति-रक्षा के लिये प्रेम कर्तव्य बन गया था और जीवन एक भारीपने में और एक रसता से बीत रहा था।

अब वकील साहब को सुधाकर का आना कुछ बुरा मालूम होता था। वह जब आता तो उससे फिरे-फिरे रहते। एक दिन वकील साहब पार्टी में गये थे। वह आया तो मैंने उसकी सोचपूर्ण मुद्रा देखकर कहा "अब की, कई दिनों में आये ?"

वह मौन रहा। उसने मेरी ओर व्यथा भरे नेत्रों से देखा !

व्यथा से मैं रो उठी। कहा—"तुम आओ तो रोज़ रोज़ आओ, या बिलकुल मत आओ।"

अबकी वह फूट पड़ा। भरे हुये गले से बोला, "न आऊँगा भाभी, अब बिलकुल न आऊँगा। मैं 'तुम्हें' प्यार करता हूँ, इससे तो मैं कभी इनकार नहीं कर सकता। लेकिन क्या किसी को प्रेम करना बुरा होता है ! नई उमर में तो सभी में इच्छायें होती हैं। फिर इसे समाज क्यों नहीं सहन करता। कल भैय्या मुझसे मिले थे। मैं तुम्हारे लिये एक कविता-पुस्तक ख़रीद रहा था। मुझसे उन्होंने बातों-बातों में कहा, "तुम्हारे प्रति मेरा व्यवहार अनुचित हो रहा है और मुझे उसे रोकना चाहिये।" व्यथित साँस उसके हृदय में मँडराने लगी।

मेरा मुँह उतर गया। मैंने अधीर स्वर में कहा, "तो तुम इसलिये आना भी बन्द कर दोगे ?" मेरा स्वर आँसुओं से भीग गया था।

"हाँ, भाभी आकर तो तुम्हें देखे बिना रहा न जायगा। व्यर्थ वेदना को उत्तेजना मिलेगी।"

कुछ क्षणों तक दोनों चुप रहे। एक दूसरे की मौनता के पीछे झाँकती हुई व्याकुल भावनाओं को पढ़ते रहे।

और फिर !

वह चला गया। मेरे अन्तर में एक हाहाकार, आँखों में आँसुओं का पारावार भरकर वह चला गया !

मेरे मन-प्राणों को अपनी आकर्षणी शक्ति से खींचने वाला 'देवर' जो मुझे 'भाभी' सम्बोधन से उन्मादविभोर कर देता था, चला गया !

उसके आगमन का निषेध हुआ था। हाँ, कटु निषेध ! निषेध को पार करने के लिये ज़रा भी सहानुभूति, और सहृदयता न मिल सकी—सामने आया केवल नीरस कठोर निषेध !

वातावरण क्षुब्ध था, अपमान और उपेक्षा, व्यथा और दुख मँडरा रहा था। मैं दुख से विकल हो पड़ी। मन विद्रोह कर उठा, "क्यों ? इसमें अपराध ही क्या था। मनुष्य के आत्मा है, मन है, प्राण है। मन में भूख और प्यास तो होती ही है, नसों में सिहरन और स्पन्दन तो रहते ही हैं, फिर यह मनुष्य से, पग पग पर नाप-तौल कर फूँक फूँक कर चलने की कैसी भारी, कैसी जटिल समस्या है ? इस समस्या में घिस कर तो जीवन भार हो जाता है !

लेकिन वह तो चला गया ! अब 'भाभी' की प्रिय पुकार कानों को नहीं सुनाई पड़ती, 'भाभी' का प्रिय सम्बोधन हृदय की नस-नस को झंकृत नहीं करता !

उषा प्रतिदिन रोली का थाल लेकर आती है। संध्या नीले सदन में दीपक जला जाती है। पर वह नहीं आता ! मैं देखती हूँ, उदास आँखों की अपलक दृष्टि से स्मृतियों में विभोर होकर—उस सुदूर की म्लान रेखा तक, पर कुछ नहीं दिखाई देता ! मेरे मन के प्राण रो उठते हैं, उच्छ्वास तड़प उठते हैं। आज वर्षा की रिमझिम में, जाड़े की ठिठुरन में, गर्मी की तपन में, वसन्त की मादक हरियाली में 'भाभी' सम्बोधन की किरणज्योति फैलाने वाला मेरा सुधाकर कहाँ है ? बादलों के टुकड़ों ने उसे कहाँ छिपा दिया है !

नारी का सपना

एक पहर रात बीत चुकी थी। आकाश स्वच्छ था। कभी-कभी कुछ उजले काले मेघों के छौने इस पार से उस पार तक उड़ते हुये चले जाते थे, और उनके भीतर से चन्द्रमा की उजली और धुँधली किरणें छनछन कर चारों ओर छितरा रही थीं। पृथ्वी पर धुली चाँदनी की चितकबरी चादर सी बिछी थी। इस सौन्दर्य को देखने के लिये निशा की खुली आँखें आकाश पर जमी हुई थीं। किन्तु उसका मन अथाह में था। प्राणों में एक आकुलता सी, जो उसे चैन न लेने देती थी, सहसा उसे गाड़ी की घड़घड़ाहट का शब्द सुनाई पड़ा। वह एकाग्र होकर सुनने लगी। कुछ ही क्षणों बाद द्वार पर खटखटाहट हुई। सुन कर निशा ने उठकर द्वार खोला, रमेश गाड़ीवान को दूसरे दिन का काम बतलाते हुये अन्दर आया। पंखा डुलाते डुलाते निशा बोली—बड़ी देर कर दी!"

चारपाई पर लेटते हुये रमेश ने उत्तर दिया—"जब काम से फ़ुरसत मिली। देर सबेर देखें कि काम देखें। निशा निरुत्तर रही।

कुछ क्षणों की नीरवता के बाद निशा ने कहा—"उठो कुछ खा लो।"

"पहले ज़रा पाँव दबा दो पीछे खाने की बात करो।"

निशा चुपचाप पाँव दबाने लगी। थोड़ी देर में ही वह ख़र्राटे भरने लगा। वह भयवश खाने के लिये नींद से उसे जगा न सकी। थोड़ी देर में जाकर चुपचाप शय्या पर पड़ रही। सन्नाटे में पड़ी हुई निशा पुनः सोचने में लीन हो गई। न जाने कितने दिनों की कितनी बातें कितने रूप रचकर उसके मन के भीतर आने जाने लगीं। वह सोच रही थी—यह जीवन भी क्या जीवन कहा जा सकने योग्य है? जिसमें कोई रस नहीं,सौन्दर्य नहीं, कोई नवीनता नहीं। इस रेतीले पथ पर इस गति से कब तक यह जीवन चलता रहेगा। एक ही दिन क्यों नहीं यह बीत कर समाप्त हो जाता?" विचारों की यह विकल आँधी न जाने कब तक उसके मानस-लोक में उथल-पुथल मचाये रहती। किन्तु रात के पिछले पहरों की स्वप्निल निद्रा ने उसकी सहायता की और वह सो गई।

प्रभात-वायु ने आकर जब उसके कृश बदन को अपना शीतल स्पर्श दिया, वह जाग पड़ी। स्वप्नों के संचित कोष को बिखेरती हुई वह अपनी शय्या पर से उठ खड़ी हुई। रमेश अब भी मीठी नींद ले रहा था!

× × ×

"सुनती हो?"

"क्या?"—पुस्तक पर से आँख उठाते हुये निशा बोली।

"क्या पढ़ रही हो? ज़रा इधर आओ!"

निशा अनमने भाव से पुस्तक एक ओर रख कर धीरे-धीरे उठकर उसके पास गई। उसके दिमाग़ में शरत बाबू की किरणमयी घूम रही थी किन्तु पारिस्थितिक विवश-अवस्था से वह मन की उस दशा से सम-झौता करके पति-देव के पैरों के समीप आकर बैठ गयी। हाथ में पंखा

उठा कर डुलाने लगी चुपचाप। उसने कहा—" बड़ी गर्मी है निशा ! मेरा सिर घूम रहा है। ज़रा दबा दो।"

आदेशानुसार निशा काम में लग गई। वास्तव में बड़ी गर्मी थी। निशा पसीने से तर हो गई। एक दीर्घ उच्छ्वास के साथ उसने कहा—"उफ़ !"

"क्या, तकलीफ़ हो रही है ?"

"नहीं तो" सिर दबाते दबाते निशा बोली।

"रहने दो मत दबाओ"—अपना सिर हटाते हुये रमेश ने कहा।

"क्यों क्या हुआ ?"

"कुछ भी नहीं"

"नाराज़ हो गये ?"

"तुम्हें तकलीफ़ हो रही है ?"

"कहाँ, मैंने कब कहा ?"

"उफ़ ! उफ़ !! कर रही हो !"

"अरे, तो गर्मी कितनी है ?"

"गर्मी का तो बहाना है !"

"तुम इसे बहाना समझो, जो चाहो समझो !"

"समझने की क्या बात ! प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि जो कहता हूँ कभी प्रसन्न-मन से नहीं करती हो।"

"कैसे तुमने समझ लिया ! मैं तो समझती हूँ जो कहते हो कभी टालती नहीं।"

"हूँ ! बातें किसी और से बनाओ। मैं तुम्हारी प्रत्येक गति विधि को पहचानता हूँ। जैसे ज़बरदस्ती तुम मेरे गले बाँध दी गयी हो।"

"तुम्हारी बातों के आगे हमारी बात ही क्या ? लेकिन ज़रा ज़रा सी बातों में तुम ही नाराज़ हो जाते हो ! अभी कल ही चादर रफ़ू करने में

देर हो गयी। पान बनाने चली गयी, कि तुम नाराज़ हो गये। उस दिन कचहरी जारहे थे मैंने टोक दिया कि गुस्से में हो गये! जीजी के बच्चे को ज़रा प्यार से डाँटा ही था कि मुझे डाँटने लगे। तो इसके मानी क्या? मैं तो चाहती हूँ ख़ुशी और सुमति से निभती जाये लेकिन तुम नाराज़ ही बने रहते हो!"

"चुप रहो। तुम्हारा दिमाग़ ही जिस क़िस्म का बना है मैं जानता हूँ।"

"औरतों का दिमाग़ ही क्या?"

"मैंने कह दिया ज़बान न मुझसे लड़ाओ। नहीं अच्छा न होगा। क्रोध से तेवर चढ़ाकर ज़ोर से डपटते हुये रमेश ने कहा।

"ज़बान मैं क्या लड़ाऊँगी?"—धीरे से निशा ने कहा। क्षोभ, क्रोध और अपमान के कारण उसकी आवाज़ काँप रही थी। उसने अपनी सहन करने वाली और धैर्य धरने वाली सारी शक्तियों को एकत्र किया और इस तर्क युद्ध से छुटकारा पाने को छटपटाने लगी।

रमेश कहता गया—"ऐसी तो औरत ही मैंने नहीं देखी, जब देखो बात का बतंगड़ बनाये रहती है।"

निशा से न रहा गया, बोली—"जान पड़ता है, इस जीवन में मुझसे तुम्हें सुख नहीं मिलने का।"

"हाँ, दोनों में से एक न रहे तभी सुख होगा!"

निशा के हृदय में यह शब्द तीर से चुभ रहे थे। उसके हृदय में किसी ने धक्का मार कर कहा—"यह है तेरा सपना!" और वह बोली भारी व्यथा से—"न जाने क्या समझकर तुमने शादी की थी। न जाने क्या चाहते हो। कभी तो मुझसे प्रसन्न रहते। इशारे पर तो चलती हूँ, जीने को कहते हो तो जीती हूँ, मरने को कहते हो तो मरती हूँ। लेकिन तुम ख़फ़ा होने के ही लिये..............।

बीच में रमेश बोला—"हाँ, मुझे पागल समझती है। अरे! तुम इस लायक़ ही नहीं हो। समझा था, कोई लायक़ मिलेगी।"

व्यथा का एक कड़ुवा घूँट पीते हुये तिलमिला कर वह बोली—"संसार में कोई चीज़ ख़राब नहीं होती उसका उपयोग ख़राब होता है।"

रमेश अत्यन्त क्रोध से भरकर चिल्ला उठा—"नहीं चुप रहेगी बद दिमाग़ औरत! दो अक्षर पढ़ लिया, लेक्चर झाड़ने लगी।"

निशा की आँखों में असहनीय व्यथा के कारण आँसू छलछला आये। वह मुँह फेर कर टेबिल के सहारे झुक कर चुपचाप आँसू पोंछने लगी।

रमेश क्रोध में बड़बड़ाता रहा।

उस दिन की दोपहरी को इस तरह नरक बनते देख निशा का दम घुटने लगा। भारी नीरव-व्यथा का बोझ उसे असह्य हो उठा। उच्छ्वसित रुलाई का वेग भारी बल से उसके कलेजे के बाहर होने लगा। आज ही क्या न जाने कितनी सुहावनी रातें, न जाने कितने मीठे प्रभात, न जाने कितनी लम्बी दोपहरियाँ इसी प्रकार बीती हैं। नित्यप्रति इसी प्रकार के कलह-कोलाहल से जीवन आन्दोलित होता रहता है।

निशा भावुक, कोमल प्रकृति की युवती। सांसारिकता से परे, निराला उसका हृदय था। और उस हृदय के अनन्त आकाश में इन्द्रधनुष जैसे सपने टूट कर लय हो चुके थे। लेकिन वह शिक्षिता, कर्त्तव्यपालन में सतर्क सदैव रहने वाली नारी इस सम्बन्ध को ख़ूबसूरती के साथ निभाना चाहती। लेकिन ठीक इसके विपरीत रमेश-जिसे भावुकता छू न गई थी। साधारण सी साधारण बात पर आपे से बाहर हो जाना उसकी प्रकृति थी। दोनों के बीच की तुच्छ तुच्छ बातें भी भयंकर रूप धारण कर निशा पर आघात करती रहतीं। उसका दुर्बल मन विद्रोह कर उठता। इस कलहमय वातावरण में, इस विषमतापूर्ण स्थिति में जीवन निर्वाह कैसे हो। पत्नीत्व के दुर्वह भार से दबी हुई वह अकेली

इस गृहस्थी की नाव को कैसे सरलता से तिरा ले जायगी? इसमें तो दोनों का सहयोग वांछनीय है! फिर जब रमेश की दृष्टि में सिवा मतभेद के, दोष और अपराधों के और कुछ अस्तित्व उसका है ही नहीं तो वह सहयोग किससे करे?

नित्य की भाँति आज भी इन्हीं बातों का पुनरावर्त्तन हो रहा था। रह रह कर उसके हृदय में निराशा, वेदना और अपमान टीस टीस उठता। वह अपने मन की बात किससे कहे? कहने के लिए है ही क्या? धर्म-पुराण, समाज कोई भी तो उस नारी के नहीं। पति का प्रेम अनेक स्त्रियों को प्राप्त है। पर उसके ही भाग्य में यह भयंकर विद्रोह की आग धधक उठी है? क्या यह उसका अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह उनकी उचित अनुचित सभी इच्छाओं के ऊपर सिर झुकावे और वह कभी उसे प्रसन्न रखने का ख्याल भी न करें। क्या उसे प्रेम की, मनो-रंजन की आवश्यकता नहीं है? वह उनकी स्वतंत्रता की बाधक नहीं है। छोटी से छोटी सेवायें करें। रुष्ट होने का कारण मिलने पर, रुष्ट नहीं, हँसते रहने के प्रयास में सतत निरत रहें। स्वतन्त्र प्रकृति, दासी के समान रहने को प्रस्तुत नहीं, पर जबरन परिस्थिति के अनुरूप अपने को बनाने में कुशल नारी का उसके साथ जीवन कितना कठिन और नीरस हो जाता है, जो पग पग पर अपना धर्म कठोर कर्त्तव्य और अडिग हठ लेकर खड़ा हो जाता हो। वह क्या करे? दुर्बल नारी! उसका तो सारा जीवन रेगिस्तान है। विवाहित जीवन के इस दीर्घ काल में दाम्पत्य-अनु-राग की अनुभूति से कभी उसका हृदय प्रकम्पित हुआ ही नहीं! वह किसे अपने हृदय के समीप देखे? उसकी पग पग पर हो जानेवाली कम-ज़ोर भूलों को कब किसने प्रेम की आँखों देखा?

संध्या हो गई विषाद सी अँधेरी। इन्हीं भावनाओं में डूबी निशा की बाल-आत्मा अपनी स्नेह मयी जननी का स्मरण कर उसकी गोद में

छिप कर एक बार हृदय खोलकर रो लेने, सारा संताप धोकर बहा देने को आकुल हो उठी। हृदय में तूफ़ान दबाये वह उठी और घर के काम धन्धों में लग गयी।

जब तारों भरी रात के आँचल में उसका हृदय व्यथा से कराह उठता तब—इस दुनिया में कौन ऐसा था जो उसकी पीड़ा से पिघल उठता? विश्व के संसर्ग से दूर होती हुई सहज सुकोमल भावनायें जब उड़ने लगतीं, तब कौन ऐसा था जो उन्हें उस समय शान्ति देता! अपने मंगलमय मीठे उपदेशों द्वारा, प्यार भरी मीठी फटकारों द्वारा, स्नेह की अमृतमय प्रतारणा द्वारा कौन ऐसा था जो जीवन के पथ को सुगम सरल बनाता? ओह! व्यथा का समुद्र लहरा उठा। पीड़ा से उबलते हुये हृदय में भयंकर ज्वार भाटे आये! जीवन में हँसने का सम्बल नहीं। कोई वेदना सुननेवाला नहीं। रुदन की सर्वनाशिनी ज्वाला में पड़कर वह चिल्ला उठी—अरे! यह प्रकृति का रस और सौन्दर्य किसके लिये?"

किन्तु संसार में, ऐसे प्रश्न करनेवाले 'पागल' गिने जाते हैं। क्योंकि संसार ऐसे प्रश्नों का—हृदय से सीधे निकले हुये प्रश्नों का, उत्तर देने में सदैव असफल रह जाता है।

× × ×

दो वर्ष बीत गये। वैशाख का महीना था। निशा की एक निकट-सम्बन्ध की बालसहचरी के पुत्र-जन्म का शुभ समाचार लेकर एक दिन उसके पति उसे बुलाने आ गये। रमेश ने पहले तो थोड़ी बहुत आनाकानी की फिर भेजने की अनुमति दे ही दी।

स्टेशन तक उसे पहुँचाकर, गाड़ी पर चढ़ाकर वह गाँव लौट गया। कल्याण निशा को लेकर लखनऊ पहुँचा। उसकी विभूति, अपनी मंगलमयी गोद में, हृदय की सुन्दर आकांक्षा के सदृश, ईश्वर के शुभ

वरदान के समान सुन्दर शिशु को लिये हुए उससे दौड़ कर गले मिली। दीर्घ काल पश्चात् दो अभिन्न हृदय मिले थे। बातों का तार न टूटा।

कई दिन उत्सव के समारोह में ही चुपके से निकल गये। दूसरों के क्रीड़ा, उल्लास, आनन्द और उमंग की लहराती हुई सरिता में निशा अपने हृदय की विषाद प्रतिमा को भूल सी गयी थी। उसे जान पड़ा जैसे पींजरे में बन्द चिड़िया स्वेच्छापूर्वक चहकने के लिये छोड़ दी गयी है। किन्तु भयवश, अनाभ्यासवश, वह पंख फड़फड़ा कर उड़ नहीं सकती। उसके हृदय को एक अशान्ति घेरे ही रहती। वह खोयी खोयी सी रहती।

एक दिन जब सब अतिथि विदा हो गये, एकान्त में उमंग और जागृति की प्रतिमा विभूति—जिसके मुख पर क्रीड़ामय चपलता नृत्य करती थी, जिसके जीवन में आशा की लहराती हुई हरियाली थी, निशा को अपने पास बुलाकर बातें करने लगी। गार्हस्थ्य जीवन की उलझनों में उलझी हुई निशा—शिथिल हृदय, ठंडे उद्‌गार और मलिन मुख पर विषाद रेखांकित निशा—की आत्मिक असन्तोष की चिनगारी खुल पड़ी। उसने कहा—"विभू! मेरे दिल का हाल क्या करोगी जानकर, मुझे यों ही रहने दो!"

"क्यों, निशा, क्या हमारे सौहार्द्र के अभिन्नत्व का यही उद्देश्य था कि हम एक दूसरे के जीवन से अपरिचित रहें?"

"परिचय से क्या प्राप्त होगा विभू! सिवा इसके कि तुम्हारे प्रसन्न मन को भी थोड़ी सी ठेस लग जाय।"

"तो इसी के भय से तुम अपने हृदय से हमें अनभिज्ञ रखना चाहती हो निशा! मुझे इतना संकीर्ण न समझो! आज तुम्हें अपने जी की बात बतानी ही पड़ेगी।" विभूति हठ पकड़ने लगी।

व्यथित निशा को कहना पड़ा—"तुम यह तो मानती ही हो मेरा जीवन सफल नहीं है, फिर भी पूछती हो तो क्या बताऊँ। क्या मेरे

जीवन में सुख सन्तोष नाम की कोई वस्तु रह गयी है, जिसकी ममता करूँ ? इसीसे संसार से विरक्ति है, जीवन से घृणा है। चाहती हूँ यह जीवन कैसे ही शीघ्र बीते। जिसे किसी की सहानुभूति और प्रेम नहीं प्राप्त उसे जीने का क्या अधिकार है। उसके जीवन का मूल्य ही क्या ? मिट जाना चाहिये उसे। व्यर्थ है भार स्वरूप जीवन !"

विभूति ने उसे समझाया। प्यार भरे शब्दों में उपदेश दिया—"निशा, यह हमारे समाज की बुराई है। हम दुर्बल स्त्रियाँ सदा से समाज के इस अन्याय का शिकार होती आई हैं, हमारी जाति ही दलित है। समाज पुरुषों का है। वह सत्ताशील, स्वतंत्र और सुखी है। हमारी तो उनके बन्धन में जकड़े रहने में ही सार्थकता है। जैसा कुछ तुम्हारे सामने है, उसी परिस्थिति के अनुरूप अपने को क्यों नहीं बना लेतीं ! निशा, यों जीवन में नरक की ज्वाला धधकाकर ही क्या पाओगी ?"

"हूँ......विभू ! कर्त्तव्य और उपदेश, तर्क और युक्ति लेकर समझाना कितना सहज है ! किन्तु हाय ! यह तो कोई नहीं देखता इन कठोर नियमों का स्वरूप कितना दुर्वह है, कितना भयंकर है !"

"यह मैं अनुमान में ला सकती हूँ निशा, लेकिन फिर इसके सिवा उपाय ही क्या है ?"

"रहने दो ! व्यर्थ सूखे उपदेशों से, थोथे आदर्शों से, कठोर नियमों से मुझे मत बहलाओ ! मैं यों ही जल जलकर खाक में मिलना चाहती हूँ विभू !"

इतना कह कर वह व्यथा से भर उठी। उसकी आँखें सजल हो आयीं और वह चुपचाप आँखें पोंछकर किसी विचार में लीन हो गयी !

विभूति परिस्थिति गम्भीर देखकर उसे बदलने के विचार से, उसके ध्यान को दूसरी तरफ़ खींचने की ग़रज़ से बोली—"अच्छा निशा, चलो न आज फ़िल्म देखा जाय। तबियत [illegible] बहले ज़रा।"

निशा क्या बोलती, वह तो जो कहो, सबके लिये तैयार थी।

आखिर संध्या की पीली किरणों के विदा होते ही सब तैयार हो गये। कल्याण बाबू ने गाड़ी में सबको भर कर स्वयं ही ड्राइव किया।

गेट पर ही मिल गया आलोक—लम्बा सा स्वस्थ शरीर का युवक! बड़ी बड़ी आँखों में मादक चंचलता, होठों पर प्रफुल्ल मुसकान, चेहरे पर एक विनोद की आभा, घुँघराले केश लहरे हुए।

कल्याण बाबू ने कहा—अच्छे मिल गये तुम आलोक! चलो हमारा बोझ हलका हुआ। यह जो कुनबा आया हुआ है, इसे ठीक से बैठावो तो अन्दर जाकर। मैं तो भई, तब तक थोड़ा टहल आऊँ।

आलोक के विषय में इतना ही पर्याप्त होगा कि वह कल्याण बाबू की बुआ का लड़का एक कलाकार था। लखनऊ यूनीवर्सिटी में फ़ोर्थ इयर में पढ़ता था। कभी कभी इनके यहाँ चला आया करता था। नवयुवक लेखकों में उसका ऊँचा स्थान था। उसकी कवितायें अत्यन्त सुन्दर होती थीं।

अन्दर जाकर अपनी अपनी सीट लेकर सब लोग आसीन हो गये। फ़िल्म शुरू हुई। प्लाट ट्रेजेडी था। निशा चुपचाप एकाग्र होकर देख रही थी। पता नहीं, उसकी आँखें चित्रपट पर क्या देख रही थीं। उसकी पलकों में किस अतीत का, वर्तमान का, अथवा भविष्य का, अभिनय हो रहा था। उसके हृदय में कौन सी आँधी चल रही थी यह कौन जाने? और सब तन्मय थे।

किन्तु आलोक—विचित्र युवक! फ़िल्म नहीं देख रहा था। सीट पर ढहा हुआ वह, दोनों हाथों की अंजलियों से मुँह ढाँपे रो रहा था।

निशा ने एक निमेष में उसे देख फिर चित्रपट पर आँखें स्थिर कर दीं। पर उसके हृदय में झंझा नर्त्तन चलता रहा।

इन्टर्वल में जब एकाएक प्रकाश जगमगा उठा। निशा अचकचा

कर अपने सिर का अस्तव्यस्त आँचल ठीक करने लगी। कल्याण बाबू ने आलोक से बर्फ़ पान आदि लाने को कहा। वह फुर्ती के साथ उठकर पान लेमोनड वग़ैरह ले आया। निशा के सामने पेश करते हुए उसने बड़े आग्रह से कहा—"आप भी शौक़ कीजिये।"

निशा ने पान लेते हुए कहा—"मैं सिर्फ़ पान ही लूँगी।" बर्फ़ आदि को इनकार कर दिया।

आलोक ने स्वयं कुछ न लेकर सिगरेट जलाया। और धुँवे का बादल उड़ाने लगा।

खेल ख़त्म होने पर कल्याण ने कहा—"चलो आलोक, आज घर। तुम उस दिन बच्चे के जन्मोत्सव पर भी नहीं आये थे।"

विभूति ने कहा—"हाँ, हाँ, चलो आलोक बाबू आज थोड़ा हम लोगों का भी मनोरंजन हो।"

आलोक हँस पड़ा—"वाह भाभी, तुम्हें कितना मनोरंजन चाहिये! अभी काफ़ी नहीं हुआ?"

"नहीं, बिना तुम्हारे पूर्ण न होगा।"

आख़िर आलोक भी आया। सब लोग खाना खा पी कर छत पर बैठे। विभूति ने बातों के सिलसिले में कविता का प्रसंग छेड़ दिया। निशा से कहने लगी—"जानती है निशा, हमारे आलोक बाबू कितने भारी महाकवि हैं?"

निशा काफ़ी भावुक थी। उसने उत्सुकतापूर्वक कविता सुनने की जिज्ञासा प्रकट की। उसे और उसकी चाल ढाल, उसकी गति विधि देखकर निशा के हृदय में उसके प्रति कुछ ऐसे भाव उदय हुए जिन्हें वह स्वयं न समझ सकी।

आलोक ने जब अपनी सुन्दर रचना, सुन्दर ढंग से गाकर सुनायी तो निशा के कोमल हृदय पर उसका देर तक प्रभाव रहा। उसे जान

पड़ा वह किसी कल्पनालोक में विचरण कर रही है। उसकी कवि के प्रति मोहक इच्छायें जाग्रत हुईं! एक सौहार्द्र का भाव उत्पन्न हुआ। उसने एक दीर्घ निश्वास लेकर उसकी मुख की ओर दृष्टि डाली मानों उसकी मुद्रा को पढ़ने की चेष्टा कर रही हो! आलोक इसका अनुभव कर रहा था। उसके अन्तरतल में उसका मधुर भोला व्यवहार एक सिहरनमय स्पर्श दे रहा था। निशा के अन्तराल में किसी ने कहा—"कैसा सुन्दर!" और वह चुपचाप जड़ हो कर बैठी रह गयी।

विभूति ने कहा—"अच्छा, आलोक बाबू, बहुत दिन हो गये तुम्हारी बाँसुरी सुने।"

"आप भी भाभी कमाल करती हैं!"

"क्यों?"

"मैं बाँसुरी बजाना किधर से जानता हूँ जो आप झूठ मूठ उड़ा रही हैं?"

"बनो नहीं, सुनाओ। देखो निशा भी सुनने को उत्सुक है। इसे बाँसुरी बहुत पसन्द है। स्कूल में हम दोनों मिस बनर्जी से सीखने का उपक्रम करती थीं। मगर कहीं हम लोगों को सभी कुछ आ सकता है!"

निशा मुस्करा पड़ी।

विभूति ने आलोक के आगे बाँसुरी डाल दी।

आलोक ने लजामिश्रित संकोच के साथ बाँसुरी होठों से लगा ली। उसकी दर्द भरी फूँक ने तान में कम्पन पैदा कर दिया। उस कम्पन में निशा के प्राणों का स्पन्दन मिलकर एक होने लगा। और जैसे सारी सृष्टि उन लहरियों में बहने लगी। उसकी तान की करुण मादकता बढ़ती जा रही थी। मानो अतीत का करुण इतिहास कोई सुना रहा हो। निशा का भावुक मन उमड़ने लगा। उसकी वेदना जैसे रागमयी हो कर निकल रही थी। वह किसी दूसरे लोक में जा पड़ी। उसके आँखों के सामने एक

काल्पनिक जगत् की प्रतिमा फिर गयी। बाँसुरी के प्रत्येक स्वर उसके हृदय के स्तर स्तर में जैसे फिर कर कल्लोल करने लगे। उसका जी जाने कैसा हो आया। वह अपने को रोक न सकी। सबकी नज़रें बचाकर उसने आँचल के कोने से अपनी आँखों के कोने पोंछ लिये!

गान बन्द हुआ तो उसे लगा जैसे कल्पना और कवित्व के, संगीत और मूर्च्छना के संसार से वह वास्तविक संसार में पहुँच गयी हो। उसकी मूर्च्छा टूटी। उसके अन्तर में जैसे कोई बोल उठा—"यह भी तो देखो एक पुरुष है। कितना भावुक, कितना विनम्र, कितना हँसमुख। इसके सम्पर्क में रहकर किसी भी स्त्री का जीवन सुखमय हो सकता है। एक वह हैं (उसकी विचारधारा रमेश पर आकर रुकी) मानों दुनिया में कोई रस नहीं, सौन्दर्य नहीं। मानव-हृदय की कोमल भावनायें, सरस अनुभूतियों के लिये जैसे स्थान ही नहीं उनके हृदय में! पग पग पर केवल कठोर कर्त्तव्य, नीरस निषेध। स्नेह करुणा की आर्द्रता जैसे है ही नहीं।"

ऐसे आनन्दमय शान्त वातावरण में उसको रहते हुए पन्द्रह दिन पन्द्रह घंटों के समान बीत गये।

एक दिन रमेश आ पहुँचा। और निशा को लिवा ले गया।

अपने सूने एकान्त में पहुँच कर कभी कभी वह आलोक की याद कर लेती। उसके प्रति उसके हृदय के नीले आकाश में प्यार की एक झिलमिल तारिका उदय हो चुकी थी। हृदय के अँधेरे में क्षीण ज्योत्सना की भाँति उसकी मोहक मूर्ति प्रवेश करती, पल भर को स्मृतियों का रंगीन पृष्ठ खुलता और फिर उस पर अन्धकार और नैराश्य का परदा पड़ जाता। चन्द्रमा की धवल विमल किरणें जब वसुधा के कण कण को चूम कर रँगरेलियाँ करतीं, और खेतों के उस पार, नदी के तीर पर कोई बिरहा गाता हुआ किसान हल बैल लिये चाँदनी रात में निकल पड़ता, अथवा आम के बगीचे में पपीहा 'पी कहाँ, पी कहाँ'

की पुकार मचाता तो उसका छोटा सा हृदय अनजान में ही आलोक की वह वंशीध्वनि सुनने को व्यग्र हो उठता। पर वह खोया हुआ गान कहाँ मिलता? वह तो उस रात्रि के आकाश में उठ कर लीन हो गया था। लेकिन उसकी स्मृति निशा में शेष थी।

दिन भागे जा रहे थे। एक दिन विभूति के पत्र से निशा को मालूम हुआ कि आलोक का विवाह हो गया। बहू सुन्दर है, शिक्षिता है। वह प्रसन्न हुई। मन ही मन मनाया—वह अपनी स्त्री को सुख दे, तृप्ति दे। जीवन का आनन्द दे।

इसके सिवा वह क्या करती। हृदय की सद्कामनाओं से उसके सौभाग्य को सिंचित बना कर अपनी छोटी सी कसक भरी दुनिया में जलन लेकर जीवन बिताने लगी।

× × ×

"मनुष्य देरी में पहचाना जाता है। आज मनुष्य अपने को मनुष्य के सामने प्रकट नहीं होने देता। वह किस श्रेणी का आदमी था, यह मैं उस समय न जान सकी थी विभू!"—कह कर निशा एक आश्चर्यजनक मुद्रा में डूब गयी।

"मैं भी नहीं उसे पहचान पायी निशा, शादी में वह कितना खुश था। क्या यह थोड़े ही जान पड़ता था कि पत्नी से वह इतनी घृणा करेगा। वह बेचारी मायके में पड़ी रोटियों को तरसती है और यह खुल्लमखुल्ला मिस 'रोज़' से विवाह करने को तैयार है।" उदासीन असन्तुष्ट मुद्रा बना कर तिरस्कार भरे स्वर में विभूति ने कहा।

कल शाम को ही वह निशा के गाँव आयी थी। शहर में एक विवाह में सम्मिलित होना था तो सोचा, निशा से मिलती जाय।

जब दोनों सखियाँ मिलीं तो और बातों के सिलसिले में आलोक की भी चर्चा आ पड़ी।

निशा को उसके विषय में जानने की काफ़ी उत्सुकता थी। विभूति ने जब उसे बताया कि वह अपनी स्त्री से असन्तुष्ट हो कर एक क्रिश्चियन युवती से प्रेम करने लगा है तो उसके दिल में उसके प्रति एक उत्तेजनापूर्ण घृणा मिश्रित अवहेला की भावना उत्पन्न हुई।

"उसका यही कर्त्तव्य था? वह कवि कलाकार होकर इतना निर्दय और स्वार्थी हो सकता है बहिन, मुझे तो बड़ा अफ़सोस होता है उसकी यह प्रवृत्ति तो बड़ी हेय है"—कह कर वह एक विचार में लीन हो गयी। उसकी अन्तर्दृष्टि अतीत की बातों में उलझ गयी। उसने सोचा—"एक दिन वह भी तो था, जब मैं आलोक के मधुर मादक व्यवहार पर मुग्ध हुई थी। उसकी मुस्कान की मीठी मन्दाकिनी में बह कर, उसकी सुरीली वाणी के अलाप में अपने को भूल गयी थी और उसकी दृष्टि के अमर संगीत ने उसकी लहराती हुई भाव भंगिमा ने मुझे अपनी ओर खींच लिया था। उस दिन मेरे हृदय के अन्तराल में किसने चुपके से झंकरित स्वरों में कहा था—'सुन्दर है', 'प्यार करने योग्य है।' और उसके बाद कितने दिनों तक मैं उसके प्रेम में पागल, स्मृति में दीवानी रही। उसकी याद मुझे कितना विकल बनाती। उससे मिलने को मैं कितना व्यग्र रहती। मेरे हृदय में जैसे सपने घिर आये थे। सपनों की इमारत सी खड़ी हो गयी थी। उसके विचारों में मुझे कितनी उज्ज्वलता दिखायी दी थी। लेकिन आज उसकी यह चाल सुन कर तो मैं अवाक् हो गयी हूँ।"

लेकिन उसने जितना सोचा उसका मन उतना ही खिन्न और अशान्त बना रहा। फिर भी उसने पूर्ण रूप से उसके बारे में विपरीत धारणा नहीं बना ली। विभूति जब चलने लगी तो उसने एक पत्र आलोक के नाम, साधारण कुशल क्षेम और उसकी पत्नी के समाचार पूछने के आशय का लिख कर उसे दिया। और बोली—

"विभू, इस पत्र को आलोक को दे देना। और इसका वह जो उत्तर दे, मुझे भेज देना।"

विभू चली गयी। निशा के मानस लोक में एक उथल पुथल मची रहती। वह प्रति समय आलोक के विषय में सोचा करती। किन्तु कोई निश्चित उत्तर उसके संदिग्ध हृदय को खोजे न मिलता।

इन्हीं अन्धड़ों में होकर जब वह बह रही थी, उसे एक दिन एक पत्र मिला वह आलोक का था। उसने लिखा था—

प्रेममयी भाभी,

भाभी ने तुम्हारा पत्र दिया। कह नहीं सकता, मुझे कितनी प्रसन्नता हुई। तुम्हारे चले जाने के बाद मुझे तुम्हारी कितनी याद आती रही, यह मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ? क्या तुम भी कभी मुझ अकिञ्चन की याद करती होगी? यदि करती होओ, तो अपने को सफल समझूँ! तुम्हारे जाने के बाद कुछ ऐसी अनुभूतियाँ जाग्रत हुई थीं कि उन्हें छन्दों में बाँधने से अपने को रोक न सका था। वह कविता 'माधुरी' के जूलाई अंक में प्रकाशित हुई थी। क्या तुमने देखी थी? मुझे तुम्हें देखने का सौभाग्य कब प्राप्त होगा? तुम्हारी प्यार भरी मधुर वाणी, मेरे कर्ण-कुहरों में अभी तक गूँजा करती है। और तुम्हारा सरल सुन्दर गम्भीर मुखड़ा नेत्रों के सामने चित्रवत् खिंचा रहता है? कब मिलोगी?

बस, यदि याद करोगी तो फिर कभी...बहू अपने मायके में है। मेरा उसका इस जीवन में मेल असम्भव है। हम दोनों में भिन्नता है, अन्तर की एक दुर्भेद्य दीवार है, जो कभी टूट नहीं सकती। मेरा तो जीवन नष्ट हो गया। विवाह ने मेरा सर्वनाश कर दिया। मेरी आशा के महल ढह गये।

अधिक फिर कभी मिलने पर—

तुम्हारी स्मृति में,

अभागा—आलोक

निशा अवाक्, विस्मय विमूढ़ रह गयी। उसके हृदय में तरह तरह की भावनाएँ टक्कर मार रही थीं। वह उसके अन्तरतम जीवन के गूढ़ रहस्यों को जानने में असमर्थ थी। कितना ही सुलझाती पर यह ग्रन्थियाँ और भी जटिल हो जातीं। वह हैरान थी। अपने जीवन से असन्तुष्ट नारी, उस युवक को अपने हृदय में बैठा कर विचित्र द्विविधा में पड़ी हुई थी।

एकान्त में वह बैठकर आलोक का पत्र पढ़ती, और उसकी विचित्र अवस्था हो जाती। कभी वह अपने जीवन की व्यर्थता का अनुभव कर रोती, कभी उसके जीवन से अपने जीवन की तुलना कर उसे अपने प्रेम और सहानुभूति का पात्र बना देती, और उसके लिये पागल हो उठती। मानव हृदय की स्वाभाविकता से वह ओतप्रोत थी। किन्तु आलोक की नवीन प्रेमिका का विचार आते ही वह हताश और खिन्न-मना हो जाती। उसका मन प्रश्न करता—"क्या आलोक मुझे भी चाह सकता है?" और फिर अनेकों प्रश्नोत्तरों से उसका मस्तिष्क मथित हो उठता।

आज विभूति का पत्र फिर आया। और साथ ही आलोक के दूसरे विवाह की सूचना!

निशा, दुर्बल नारी, आज सब कुछ पढ़ कर, समझ कर स्तब्ध है। किन्तु उसकी आत्मा में जो अशान्ति व्याप्त थी वह आज शब्द-मयी होकर बोल रही है—"कह री नारी, तूने कितने सपने देखे? एक ओर पहाड़ तो दूसरी ओर खाई! तू किधर से हो कर चलेगी? एक ओर तुझे मिले,—केवल नियम-बन्धनों, कठोर नीरस कर्त्तव्य और धर्मों के, थोथी आदर्शवादिता के पहाड़ के पहाड़! और दूसरी ओर तुझे मिली पुरुष के छद्म रूप की गहरी खाई! किस पर विश्वास और किस पर अविश्वास करेगी तू? दुर्बल रमणी हृदय! मोम की तरह

थोड़ी आँच में गरम और हवा लगते ही शीतल ! अबोध जाति ! तुझे जीवन में पुरुष प्रकृति का ज्ञान कहाँ, उनकी बहुरंगी चतुर्मुखी नीति, उनकी दुनिया के काट पेंच से, छलछिद्रों से सदैव अनभिज्ञ रहनेवाली अनजान नारी ! पुरुष के बाह्य स्वरूप को देख कर प्रेमावेश में अपनी रही सही बुद्धि भी खो देनेवाली नारी, तू पुरुष के हृदय में छिपी हुई पैशाचिकता को नहीं जान सकती ! उसके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं सुन सकती। जिसके गले तुम बाँध दी जाती हो, वह तुमसे मनमाने खेल खेल सकता है। तुम्हें जिस रूप में देखना चाहता है, देखता है। और फिर बासी फूल की माला सदृश, हृदय लगा कर, सूँघ कर, चूम कर, प्यार कर जब चाहे छिन्न भिन्न कर फेंक सकता है ! और जिसे तुम प्यार करती हो, वह तुम्हें निर्दयतापूर्वक ठुकरा सकता है। जिससे तुम्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है, उससे तुम्हें कठोर तिरस्कार प्राप्त होगा ! और जिससे तुम्हें क्षमा की आवश्यकता है, उससे घोर अवहेलना, भीषण प्रतिकार मिलेगा। वह सिहर उठी—अपने व्यक्तित्व को सोच कर। संसार—इन्हीं पुरुषों द्वारा रचे हुए समाज के—जीवन को, 'सुख' और 'स्वर्ग' का नाम देता है। निष्ठुर पुरुष जाति, जिसकी झूठी सहानुभूति में स्वार्थ छिपा हुआ अपना विकृत मुँह दिखाता है—हमसे आशा करता है—सदाचार को, पातिव्रत्य की, झूठे आदर्शवाद की। हमें बन्धन में जकड़ कर अपने उपयोग में सदा सर्वदा आते रहने की। वास्तविकता के परिचय ने उसकी कल्पना को दूर फेंक दिया। ओह ! कहीं कुछ नहीं ! ऐसे समाज में क्षुद्रता, संकीर्णता, भ्रमजाल में रह कर कहीं शान्ति नहीं, सुख नहीं, सन्तोष नहीं।

निशा के हृदय से एक दीर्घ उच्छ्वास निकला ! निराश, असफल हृदय में एक वेदना कसक उठी, व्यथा कचोट उठी, विह्वल हृदय से रुदन का स्वर उठा और सारा वातावरण उसमें लीन हो गया। वह

स्तब्ध हो कर रह गयी। उन्मत्त का प्रलाप शान्त हो कर रह गया। अकस्मात् सपनों की लड़ियाँ बिखर जाने वाले प्राणी के हृदय की कसक कहानी समाप्त हो कर रह गयी ! सपनों की दुनिया में विचरने वाली नारी जैसे जागकर विस्मय कौतूहल से नीरव, निस्पन्द, निःशब्द हो कर रह गयी !

विद्रोहिनी

"मैं तो इस वक्त चलने से रहा"—मोहन ने सिर हिला कर कहा।

"यार तुम भी कैसे डरपोक हो"—मदन मुस्कुराते हुए बोला।

"इसमें डर की बात है ही! एक तो ग्यारह बजने को है, करफ्यू आर्डर लगा हुआ और आप इस मुसलमानी पोशाक में उन सुनसान गलियों से उतनी दूर......मुझसे चलने को कह रहे हैं!"

"अजी तुम भी क्या बात करते हो! इसी शेरवानी पैजामे में मैं रात के बारह बारह बजे वहाँ से लौटा हूँ अकेले।" किंचित् अर्थ भरी मुस्कुराहट से होंठों को भिगोते हुए मदन बोला।

"यह बात है! तो भई, यह आकर्षण की बात है, जो जाने कहाँ-कहाँ से मनुष्य को खींच ले जाता है। क्यों ठीक है न?"—उसकी तरफ देख कर आँखों आँखों में ही एक मीठी हँसी हँस कर मोहन ने कटाक्ष किया।

"क्या कहा, आकर्षण! खूब समझे आप! क्यों न हो, मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक।"—कह कर मदन हँस दिया।

"यार मुझसे न उड़ा करो ! मैं तुम्हारी नस नस पहचानता हूँ ।"

"तो मैं क्या कह रहा हूँ भाई ?"

"कहो कि तुम्हारा उस घर की सरला से रोमांस नहीं चल रहा है ?"

"तुम्हारा ख़याल ग़लत है मोहन ! मैं उस घर में वर्षों से आता जाता रहा हूँ । और इतने दिनों में सरला से भी परिचय घनिष्ठ हुआ ही समझो ।"

"लेकिन सुना है वह विवाहित होते हुए भी तुमसे आध्यात्मिक प्रेम करती है ?" उसके मुँह की ओर देखते हुए मोहन ने प्रश्न किया ।

"बहुत सम्भव है करती हो, लेकिन इस राह की अपेक्षा तो मैं रखता नहीं मोहन ! जहाँ मिले, मोहब्बत का दम दूर दूर से ही भरने में क्या हुआ ? इसका उपयोग तो जब मिले कर ही लेना है मनुष्य को ! नारी है केवल भोग की चीज़ । जानते हो ? उसकी एक ख़ास प्रकृति होती है कि उनसे ज़रा भी सहानुभूति प्रकट कर दो, बस वह अपने को समर्पण करने को तैयार हो जाती है । लेकिन पुरुष तो कहीं बँध कर बैठ नहीं सकता, उसकी तो डाल डाल पर मँडरानेवाली भ्रमर वृत्ति होती है न ?"

"अच्छा तो यह है आपकी विचार धारा ?"—कह कर मोहन ज़रा सा हँस पड़ा ।

"अरे चलता है या बैठे बैठे विचार विनिमय करेगा ? विश्व की व्याकुलतम बेला में; चल न दुनिया के झंझटों को दूर कर कहीं प्रेम सन्धान किया जाये !"

"भाई तेरी तरह यथार्थ प्रेम मैं नहीं कर सकता हूँ । मुझे तो अब धराशायी होने दे ।"

"यह तो होने का नहीं, मैं तो तुम्हें इस वक्त ले ही चलूँगा। देखूँ कैसे नहीं उठते ?"—कह कर उसने उसके दोनों हाथ पकड़ अपनी तरफ़ खींच लिया। मोहन सँभल कर खड़ा हो गया, बोला—"मैं सच कहता हूँ, वहाँ मैं इस वक्त किसी तरह नहीं जा सकता। गृहस्थों के घर आधी रात को आप जा टपकेंगे, क्या कहेगा कोई ? अगर हीरा बाई के यहाँ चलो तो चल सकता हूँ।"

मदन ने जेब से सिगरेट निकाल कर जलायी, कहा—"अच्छा बेवकूफ़ है। चल भाई हीरा बाई के ही यहाँ चल !"—और पैरों में जूते डाले मोहन का हाथ पकड़ घर से बाहर हो गया।

× × ×

रूपा ने दूसरा रिकार्ड लगाया—

"इन्हीं बातों ने रुसवा कर दिया हमको ज़माने में।
कि सबो चाहने वाले का झूठा आसरा देना ॥"

सरला ने नन्हा के पंखा डुलाते डुलाते घुटने पर अपना सिर टेक लिया। आँखों के किनारे कुछ भीग से आये, जिन्हें चुपचाप आँचल से सुखाते हुए उसने एक व्यथा भरी चितवन से रूपा की ओर देखा, कहा 'यह रिकार्ड मत लगाओ बीबी !'

"क्यों भाभी ?"

"नहीं रूपा !"

"क्या, भाभी, किसी चाहनेवाले की याद आ गयी ?"—रूपा ने मज़ाक़ के स्वर में ज़रा हँसकर कहा।

"रूपा !"—कुछ कहने के लिये सरला ने अपना मुँह उठाया कि नन्हा ने आँखें खोल दीं, कहा—'पानी !' सरला झट उठ उसे पानी पिलाकर पंखा डुलाकर सुलाने लगी।

रिकार्ड बज रहा था—

"हमारा झाँकना और झाँक कर आँसू गिरा देना।
तुम्हारा देखना और देख कर आँखें फिरा लेना॥"

"बीबी"

"हाँ भाभी।"

"तुमने कभी किसी को प्रेम किया है?"

"नहीं भाभी।"

"तो रिकार्ड बन्द कर दो बीबी!"

"नहीं भाभी, तुम्हें चिढ़ाने में मज़ा आता है!" फिर हँस दी रूपा।

"बार बार चिढ़ाया जाना अब बरदाश्त नहीं होता बीबी!"

"पहले तुम्हें कौन चिढ़ा चुका है भाभी बता दो।" आग्रह से रूपा ने कहा।"

"रूपा! बीबी!!"

सहसा सरला का मुँह देखकर रूपा गम्भीर हो गयी। वह कुछ संकुचित हो सोचने लगी—यद्यपि उसकी घनिष्ठता भाभी से बहुत दूर तक पहुँच गयी है, मगर फिर भी इस दिशा में उँगली उठाने का अधिकार उसे तो नहीं लेना चाहिये। उसके जीवन के किसी अँधेरे एकान्त कोने को स्पर्श करने से बहुत सम्भव है उसे तकलीफ़ हो!

अबकी रूपा भी ज़रा गम्भीर होकर बोली—"तुम्हारे सेण्टीमेण्ट को कुछ धक्का पहुँचा है मेरी बात से भाभी? तुम गम्भीर क्यों हो गयीं?" —उसे लगा जैसे इस सदा सतर्क और हास से खिली नारी के हृदय के अन्तराल में कोई अस्थिर और उदास छाया कहीं से आकर कुछ खोज सी रही है। और उसका मन मानों किसी सुदूर प्रदेश में उड़ गया है!

सरला ने मेघ जैसे सजल गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—"नहीं कर सकी हूँ रूपा, हज़ार कोशिशें करके भी हृदय को पाषाण [illegible] नहीं

कर सकी हूँ। ठेस लगते लगते अब ज़ख्म पर एहसास बहुत कम रह गया है, फिर भी कभी कभी तकलीफ हो उठती है— और तभी यह सेन्टीमेन्ट नाम की बला उभड़ आती है। मनुष्य कितना कमज़ोर है बीबी !"

"दुनिया में यह स्वाभाविक है भाभी !"

"तो फिर दुनिया क्यों हमसे चाहती है कि हम सत्य को मिटा दें— मनुष्यता का गला घोंट दे, हृदय नाम की वस्तु का अस्तित्व ही मेट दे !—कहते कहते ज़रा सी मुस्कुरा दी सरला।

"क्यों भाभी, आज बहुत दिनों से जो एक बात तुमसे पूछने को मन में रक्खे आयी हूँ, आज निकालना चाहती हूँ। बोलो भाभी, बुरा तो न मानोगी ?"—मृदु कंठ से रूपा ने पूछा।

"पूछो न बीबी, जिसे जीवन भर छिपाया आज अब और छिपा रखने को मन नहीं होता।"

"तुमने सचमुच किसी को बहुत चाहा था ?"

"यही तो मैं भी सोचती हूँ।"

"क्या भाभी ?"

"कि किसी को सचमुच चाहने की ग़लती मैंने की ही कैसे ? अपने आदर्श की उपेक्षा करके किसी अभागे को आत्म समर्पण कर निर्विघ्न शान्ति पाने की बात सोची ही कैसे ? और आज इसी पश्चात्ताप की आग से मेरा सारा भविष्य जल सा गया है बीबी, तुम इसे कैसे समझोगी ?,, उसका मन वेदना की लपटों में धू धू कर जल रहा था।

"तो क्या तुमने ही अकेले यह ग़लती की है भाभी संसार में ? अभी तुम कह चुकी हो मनुष्य बड़ा कमज़ोर है। क्या मानी हैं कि मनुष्य नीति शास्त्र का अध्ययन कर ही संसार में चले !"

"नीति। हाँ बीबी, समाज की बनाई नीति रीति नियम-बन्धन

मर्यादा का ही तो पालन हम स्त्रियों को करने को कहा जाता है ! हमें—जो पुरुषों के खेलने, उपयोग में आनेवाली चीज़ समझी जाती है—पुरुषों से स्वतन्त्र प्रेम करने का हक़ ही क्या है ! पुरुष से शुद्ध प्रेम के नाम से कुछ चाहने और याचना करने के समान उपहास्य हमारे लिये और कुछ नहीं है बीबी !,,—सरला के हृदय में जैसे ज़हर उछल रहा था ।

रूपा के हृदय से कुछ भाप सी निकली । उसने कुछ देर तक नीरव रह कर धीरे से कहा— तुमने जीवन में भारी प्रेम की हार खायी है भाभी !

सरला की आँखों के कोनों में आँसू की बूँदें फिर छलछला आयीं । उसके चेहरे की तरफ़ देखकर भरे गले से उसने कहा—बीबी, यह पराजय सचमुच प्रेम की ही पराजय कहलाती है ! लेकिन किसी चिर अजेय, चिर अज्ञेय पाषाण हृदय में किसी का प्रवेश करने का विफल प्रयास तो एक आत्मविडम्बना ही है रूपा, मैंने केवल प्रेम किया, पाया कभी नहीं !

"तो क्या उसने तुम्हें नहीं चाहा ?"

"रूपा, काश वह किसी एक क्षण को भी चाहता ! लगातार क्यों आया वह मेरे घर—विच्छेद के दिनों में बराबर पत्र भेजे उसमें वह लिखता कि तुम्हारे प्रेम में मैं अन्धा हो रहा हूँ, दीवाना बन गया हूँ, मेरा जीवन रेगिस्तान बन गया है; तुम्हारे बिना जी नहीं सकता और और बहुत कुछ । तो जानती हो रूपा, स्त्री का हृदय प्रेम का केन्द्र है जन्म से लेकर मृत्यु तक वह वैसा ही बना रहता है । मानव-सुलभ दुर्बलता भी उसमें रहती ही है और कहना न होगा कि अधिक मात्रा में रहती है फिर यह कैसे सम्भव था रूपा, कि उसके इस प्रेम के आवेग से प्रेम के इस मीठे निमन्त्रण को पाकर हृदय के स्थिर जलराशि में तरंगें

न उठतीं, झोंके से लहरें न उठ पड़तीं ? लेकिन जब वह हिल उठीं वह उठीं तब देखा सामने एक कड़ुवा सा उपहास ! प्रेम के प्रति' स्त्री के हृदय के सेण्टमेण्ट के प्रति एक ज़हर उगलती हुई छीःछी की ध्वनि ! और तब जाना बीबी, कि उसकी वह एक क्षणिक भावना थी, मात्र कृत्रिमता, वासना का उन्मत्त आवेग............व्यग्र-आवेश से सरला कहती चली जा रही थी ।

बीच में बोल उठी रूपा, मैं इस राह पर नहीं चली हूँ भाभी, मुझे इसका अनुभव नहीं है अभी किन्तु सुनती हूँ मनुष्य के जीवन मे प्रेम की कामना भी अनिवार्य होती है !

"होती है रूपा, होती है। जिसके नहीं होती मैं उसे पशु समझती हूँ मनुष्य नहीं। किन्तु यही तो चाहते हैं पुरुष हमसे, कि मानवता की हत्या कर हम पशु बन कर उनके उपयोग मे आती रहें, सदा सर्वदा आती रहें—हमें कोई अधिकार नहीं कि उनके आश्रय में पल कर हम स्वतन्त्र होकर उससे प्रेम करने का दावा करें ?"

"ओह ! कितना हमें बर्दाश्त करना पड़ता है भाभी !" एक लम्बी साँस लेकर रूपा ने कहा ।

"हमारी सामाजिकता ने ही हमें इसके लिये बाध्य किया है। हमारी संस्कृति रूढ़ियाँ हमारे स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास नहीं होने देतीं । युग के दीर्घ बन्धनों को काट फेंकने पर समाज हमें पैर ही कट जाने का भय दिखाता है । लेकिन मनुष्य तो मनुष्य ही है न बीबी, उसकी मानव-सुलभ दुर्बलता तो कभी न कभी, किसीन किसी जगह से छलकना ही चाहेगी, आकांक्षायें तो बढ़ना ही चाहेंगी, चंचलता विराम पाकर नहीं बैठ सकती फिर कैसे आवरण में लपेटे हुये हम चलें रूपा !

"स्त्री के लिये सचमुच यह एक भारी समस्या है भाभी !" एक गहरी साँस लेकर रूपा ने कहा ।

"सुलझाना है बीनी, इस समस्या को तुम्हीं।" कहकर सरला रुक गयी उसके हृदय में विद्रोह-ज्वाला लपटें ले रही थी।

रिकार्ड बज कर समाप्त हो गया था। वातावरण में एक उदासी और धुँधलापन न जाने कहाँ से आकर एकत्रित हो गया था!

रूपा सोच रही थी—भाभी ने किसी से प्रेम किया है और बदले में पाया है एक गहरा अपमान, एक मर्मान्तक वेदना और व्यर्थ की विडम्बना। आज जब वह नशे का सा खुमार उतर गया है, उसने अपनी ग़लती महसूस की है। लेकिन उसे भी तो दोष नहीं दिया जा सकता। मनुष्य की इच्छायें तो चुकती नहीं और न उन्हें चुकाने की प्रवृत्ति ही होती है, भले ही वह धक्का खा कर बिखर जायें। फिर भी अधीर हृदय से न जाने कैसी अतृप्त लालसा हर वक़्त पुकार मचाती ही रहती है। वह क्यों होती है? कैसे होती है? होना चाहिये या नहीं—इसका निर्णय और कोई करे तो करे मैं तो नहीं कर सकी। केवल इतना जानती हूँ, यह होती ही है।

× × ×

"सरला, रानी!"

"मुझे फिर 'रानी' कहा! भिखारिन हूँ न मैं?"

"नहीं रानी, ऐसा न कहो!"

"नहीं राजा, ऐसा न कहो!"—ज़रा सा मुसकुरा कर सरला ने अमर की ही तरह कहा,—मैं तो तुम्हारी भिखारिन ही हूँ—तुम्हारे प्रेम की, मान की, दया की।

"नहीं, नहीं, सरला, यह न सोचो"—अमर को सहसा कोई उत्तर नहीं सूझा।

"नहीं कैसे, तुम्हारे प्यार के दान बिना मेरा अस्तित्व कहाँ, तुम्हारी करुणा पर ही मेरा जीवन निर्भर है!"

"ऐसा कहोगी रानी ? यह क्यों नहीं कहती कि स्त्रियाँ इस दासत्व के अन्दर से ही पुरुषों पर प्रभुत्व स्थापित रखती हैं। और फिर वह तो सृष्टि की संचालिका है !" मुस्कुराते हुये अमर ने उत्तर दिया।

"यह तो हुई हमारी सार्थकता ! हो तो तुम्हीं हमारे रक्षक और पालक, इसी से तो कहती हूँ मुझे भिखारिन कहो, दासी हूँ मैं तुम्हारी।" स्वाभाविक शान्त स्वर से सरला बोली।

"ऐसे नहीं—मुझे भिखारी कहो, मैं हूँ तुम्हारा दास, तुम मेरी स्वामिनी।" कह कर नाटक करता हुआ सा अमर फिर हँस पड़ा।

किन्तु सरला का चेहरा गम्भीर ही रहा। क्षण भर उसके मुख की ओर ताक कर अमर भी अबकी गम्भीर हो कर बोला—"सरला, तुम मुझे प्यार नहीं कर सकतीं। तुम्हारे पाने के लिये मैंने कितनी कोशिश की किन्तु अपनी कहते हुये भी तुम्हें.........।" एक दीर्घ साँस लेकर वह चुप हो गया।

"कौन कहता है, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती—करती हूँ, बहुत अधिक, देवता की तरह।" हँसते हुये सरला ने कहा।

अमर ने उत्तर में एक सूखी हँसी हँस कर कहा—"देवता की तरह ! प्यार ? नहीं सरला, वह प्यार नहीं वह तो है श्रद्धाभक्ति। अच्छा, तो वही पाने का अधिकारी मैं हूँ ! प्यार—जो मनुष्य का मनुष्य से होता है वह नहीं। क्यों सरला ?"—बात के आखीर में उसके मुँह से एक दबी सी श्वास निकल गयी। "हार जाओगे। तर्क न करो। पति परमेश्वर है, पत्नी उसकी दासी ही बन कर उसे पूज सकती है। ऐसा हमारे हिन्दू-धर्म और ज्ञान ने सिखाया है ? तो फिर स्वामी और दासी में प्यार कैसा ! प्यार तो स्वतन्त्र होता है ! समानता चाहता है !!"

"ज्ञान की बातें न करो, रानी।"

"ज्ञान को लाँघ कर हम पापी और पतित क़रार दिये जायेंगे।

अनाधिकार चेष्टा ही कहलायेगी वह। पति-पत्नी में नीति और आचार के पंडितों ने जो प्रेम को केंद्रित कर दिया है, वहाँ वह भक्ति के रूप में परिणत हुये बिना नहीं रह सकता—और वही स्त्री दे सकती है पति को।" कहते कहते सरला के अधरों पर एक हलकी फीकी मुसकान खेल गयी।

"अपने पक्ष का तर्क तो खूब सूक्ष्म पेश कर रही हो, रानी। मगर मेरा तो 'तर्क न करो' कह कर मुँह ही बन्द कर दिया है तुमने। खैर, आज समझौता कर लो और कल के लिये सभा स्थगित करो।" कह कर हँसते हुये अमर ने सरला का हाथ अपने हाथ में लेकर मृदु कंठ से कहा—"चलो रानी, कुछ खाना दो भूख लग आयी—तुम्हारी प्रेम की बातों से।"

सरला जलपान निकालने उठ कर चल दी, इतने में बाहर से किसी ने आवाज़ दी, अमर!

आवाज़ पहचान कर अमर ने उत्तर दिया—चले आओ न मदन!

"क्या कर रहे हो भाई?"—कहते हुये मदन अन्दर चला आया। अमर ने उसे अपने पास ही बैठा कर जलपान की तश्तरी उसके सामने कर दी। कहा—"खाओ न यार!"

"ऊँ...हूँ... ..अभी तो खाये चला आ रहा हूँ।" मदन ने सिर हिला कर कहा।

"अरे, यार मुँह, चला बना पीछे।" कह कर अमर मुस्कुरा दिया। अब मदन ज़िद न कर सका, खाने लगा।

उधर सरला जल्दी से कमरे में घुस कर बिस्तर पर पड़ कर सोच रही थी—इस दुनिया में पग पग पर गिराने वाली खाइयाँ क्यों? प्रलोभन के अम्बार क्यों खड़े हैं? हृदय को छलनी करने वाले तीर क्यों गढ़े हैं! फिर इस संसार के इस चंचल प्रवाह में स्थिर शान्ति की, स्थिरता की दुराशा क्यों? स्वर्गीय प्रेम के मधु की अमरता की आकांक्षा क्यों?

मनुष्य अपनी सीमा में घिर कर जो कुछ मिले उसे पकड़े रह कर, चलते रहना क्यों नहीं चाहता है ? आह ! मदन !! सोचती थी अब न आओगे। फिर भी तुम आते ही हो ? क्यों आते हो ? यह न तब मालूम था न अब ! आख़िर किसी दिन तुमने मुझे चाहा भी था या नहीं, यह सब तुम्हारा ढोंग था ? इस सन्देह की ज्वाला से मेरे प्राण आज भी जल उठते हैं। मुझे नहीं मालूम, मैं आज तक नहीं जानती कि तुमने मुझे कभी किसी क्षण प्यार भी किया ? मदन, मदन, तुमने मेरे सेण्टीमेण्ट को बढ़ावा देकर—अपने सामने उसे प्रकट करवाकर, मेरी सहृदयता से तुमने अनुचित लाभ उठाया ? इस छल की ज़रूरत ही क्या थी ? कैसी घृणा और लज्जा की बात है ! मदन, आज अपने को प्रकट कर अब मैंने तुम्हें पहचाना कि तुमने ढोंग किया था प्रेम नहीं। लेकिन यह भी कोई खेल की वस्तु है ? बालू की भीत सी उठा कर उसे लात मार गिरा दिया जाता है ? क्या प्रेम के कोष में यह खिलवाड़ नाम का भी शब्द है ? प्रेम जैसी सुन्दर और महान् वस्तु को तुच्छ बना कर तुमने कलंकित किया ही क्यों ? उस दिन बैठक में बैठे हुये तुम 'उनसे बहस' कर रहे थे—मनुष्य क्यों रोमांस रोमांस चिल्लाता है ? उसके हृदय में और कुछ न हो कर रोमांस की ही भूख क्यों जागती है ? इतने सारे काव्यों में रोमांस की ही तुष्टि क्यों हो रही है ! यह कुछ नहीं है। सेण्टीमेण्ट फ़िजूल चीज़ है। शरीर की चाहना ही यहाँ सब कुछ है। मैं कहती हूँ तुम्हें ढोंगी, प्रेम का पाखण्ड करने वाले, पूछती हूँ तुमसे कि तुम्हीं ने क्यों प्रेम का राग अलापा था ? तुम्हें ही क्यों किसी के जीवन के साथ भयंकर खेल करने का शौक चर्राया था ? तुम्हीं क्यों प्रेम के भूखे थे ? तुम्हारे चरणों पर प्रेम की निधियाँ लोटी फिरती थीं, फिर तुम्हें ही क्यों इसकी आवश्यकता महसूस हुई ? लेकिन नहीं ......मैं ग़लती पर हूँ—तुमने प्रेम किया ही कहाँ ? वह तो मात्र ढोंग था। निष्ठुर,

स्त्री के प्रेम का तुमने मज़ाक उड़ाया ?—अनायास उसके स्फुरित होठों से निकल गया—स्त्री के प्रेम का तुमने मज़ाक उड़ाया ! और अन्दर से कुछ ऐसे विद्रोह के द्वन्द की प्रेरणा हुई कि वह अपने आपे में न रही। पागल सी बिजली की तरह कमरे से बाहर निकल कर जहाँ मदन और अमर बैठे थे जा खड़ी हुयी। उसकी दृष्टि से चिनगारियाँ सी निकल रही थीं—मुद्रा कठोर हो रही थी—उसने दृढ़ स्वर में मदन को सम्बोधित कर कहा—"मदन ! तुम यहाँ से फ़ौरन चले जाओ और कभी मत आना। तुम.........।" कहते कहते वह ज़बरदस्ती अपने होठों का काँपना दाँतों से रोकने लगी। उसकी श्वास वेग से चल रही थी और चेहरे पर जैसे कठिन विद्रोह की उष्णता की भभक आ लगी हो ?

अमर ने उद्वेग से चौंक कर पूछा—"यह क्या सरला ?" स्तब्ध मदन मुँह नीचा किये स्वप्न प्रभावित की तरह बैठा रह गया और फिर ज़रा देर बाद उठ कर चल दिया।